रवीन्द्र-साहित्य

आठवाँ भाग

अनुवादक
धन्यकुमार जैन

पद्यानुवादक
श्यामसुन्दर खत्री

हिन्दी-ग्रन्थागार
पी-१५, कलाकार स्ट्रीट : कलकत्ता-७

सूची
पीछे
देखिये
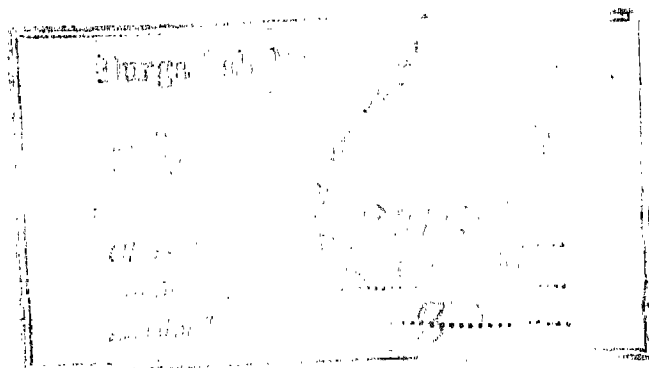
जनगण-मन-अधिनायक

जनगण - मन - अधिनायक, जय हे भारत - भाग्य - विधाता !
पंजाब सिन्धु गुजरात मराठा द्राविड़ उत्कल बंग,
विन्ध्य हिमाचल यमुना गंगा उच्छल जलधि-तरंग,
तव शुभ नामे जागे, तव शुभ आशिस माँगे, गाहे तव जय-गाथा।
जनगण-मन-अधिनायक, जय हे भारत - भाग्य - विधाता।
जय हे, जय हे, जय हे, जय जय जय, जय हे !

अहरह तव आह्वान प्रचारित, सुनि तव उदार वाणी,
हिन्दु बौद्ध सिख जैन पारसिक मुसलमान क्रिस्तानी,
पूरब पश्चिम आसे तव सिंहासन पासे, प्रेम-हार हय गाँथा।
जनगण-मन-अधिनायक, जय हे भारत - भाग्य - विधाता।
जय हे, जय हे, जय हे, जय जय जय, जय हे !

पतन-अभ्युदय-बन्धुर पन्था, युग-युग धावित यात्री,
हे चिर-सारथि, तव रथचक्रे मुखरित पथ दिन-रात्रि,
दारुण विप्लव-माँझे तव शंखध्वनि बाजे, संकट दुःखत्राता।
जनगण-मन-अधिनायक, जय हे भारत - भाग्य - विधाता।
जय हे, जय हे, जय हे, जय जय जय, जय हे !

घोर तिमिरघन निविड़ निशीथे पीड़ित मूर्छित देशे,
जाग्रत छिल तव अविचल मंगल नत नयने अनिमेषे,
दुःस्वप्ने आतंके रक्षा करिले अंके, स्नेहमयी तुमि माता।
जनगण-मन-अधिनायक, जय हे भारत - भाग्य - विधाता।
जय हे, जय हे, जय हे, जय जय जय, जय हे !

रात्रि प्रभातिल, उदिल रविच्छबि पूर्व-उदयगिरि-भाले,
गाहे विहंगम, पुण्य-समीरण नव-जीवन-रस ढाले।
तव करुणारुण रागे निद्रित भारत जागे, तव चरणे नत माथा।
जय जय जय हे, जय राजेश्वर, भारत - भाग्य - विधाता।
जय हे, जय हे, जय हे, जय जय जय, जय हे!

निर्झरका स्वप्न-भंग

आज प्रात ये उज्ज्वल रवि-कर
पैठ गये प्राणोंमें क्योंकर,
क्योंकर पैठा गुहा-तिमिरमें प्रात-विहगका मधुमय गान,
क्या-जाने-क्यों इतने दिनपर जाग उठे हैं सोते प्राण।

जाग उठे हैं सोते प्राण,
उमड़ उठी है जलकी धार,
रुक न सका प्राणोंका वेदन, प्राणोंका आवेग-प्रसार।

थर-थर काँप रहा है भूधर,
धसक रहे हैं प्रस्तर-खण्ड,
फूल-फूल उठता फेनिल जल,
गरज-गरज कर रोष प्रचण्ड।
इधर उधर पागल उन्मद-सा
चक्कर काट रहा लाचार,
विकल निकलनेको बाहर वह,, किन्तु कहाँ काराका द्वार ?

रे विधि, क्यों तू ऐसा पाहन,
क्यों रच दिया चतुर्दिक बन्धन?
उर कर चूर, तोड़ रे बन्धन,
साध आज प्राणोंका साधन।
उठा लहरपर लहरें अविरल,
चोटोंपर तू चोट किये चल।
जब उन्मद हो उठे प्राण-मन,
फिर कैसा तम, कैसा पाहन!
आज वासना उथल उठी जब,
काहेका डर जगमें फिर तब?

मैं ढालूँगा करुणा - धारा,
मैं तोड़ूँगा पाथर - कारा,
प्लावित कर जगको चूमूंगा,
गा गा पागल-सा झूमूंगा।
छितरा केश, बटोर कुसुम-दल,
उड़ा इन्द्र-धनुषी पर उज्ज्वल,
हँसो बिखेर सूर्य - किरणोंमें दूँगा मैं प्राणोंको ढाल।
दौड़ूँगा मैं शिखर-शिखरपर,
लोटूँगा गिरि-गिरिपर फिरकर,
खिल-खिल हँस-हँस, कलकल गा गा, ताली देकर दूँगा ताल।
कितनी बातें, कितने गायन, कितना मम प्राणोंमें जोर,
कितने सुख हैं, कितनी साधें, जिनमें मेरे प्राण विभोर।

क्या-जाने-क्या आज हो गया, जाग उठे हैं सोते प्राण,
मुझे दूरसे सुन पड़ता है महासिन्धु-आवाहन-गान।
मुझको चारों ओर, अरे रे,
यह कैसा कारा है घेरे!
तोड़ तोड़ रे कारा, तू अब, आघातोंपर कर आघात,
अरे विहंगोंने क्या गाया, आया रवि-कर आज प्रभात।

सूरदासकी प्रार्थना

ढक लो ढक लो घूँघट-पटसे अपना मुख, मैं कवि सूरदास।
आया हूं मैं कुछ भिक्षाको, मुझको न करो देवी निराश।
मैं मर्म - मर्ममें अनल - दहन
अतिशय असह्य कर रहा वहन,
पल-पलपर आज कलङ्क-राहु मेरा जीवन कर रहा ग्रास।

तुम हो पवित्र, तुम हो निर्मल, तुम देवी हो, तुम सती सुगति,
मैं कुत्सित दीन अधम पामर, मैं पाप-पंकमें मग्न कुमति।
तुम हो लक्ष्मी, हो तुम्हीं शक्ति,
भर दो मेरे उर-बीच भक्ति।
जल जाय पापका तम जिससे उस पुण्य-ज्योतिकी कहाँ प्रगति!

देवी करुणा नारी-तन धर
आनन्द-धार जगमें बनकर
पतित-पावनी गंगा जैसे अवतरीं पापका करने क्षय।

तव चरित रहेगा बना विमल,
तव धर्म रहेगा अति उज्ज्वल,
मेरा यह पाप-ताप सारा निज पुण्यराशिसे कर दो लय।

लज्जाकी कथा सुनाऊँगा तुमको सारी लज्जा तज कर।
तव आभासे मलिना लज्जा लय होगी पलकोंके भीतर।
जिस भाँति खड़ी हो खड़ी रहो,
दृग नत कर देखो मुझे अहो!
खोलो आनन आनन्दमयी, घूँघटका काम नहीं मुखपर।
तुम लख पड़तीं भीषण, मधुमय,
हो निकट, दूर भी हो अतिशय,
उज्ज्वल जैसे हर-रोषानल, उद्यत जैसे शर-पक्ष प्रखर।

क्या ज्ञात तुम्हें मैंने देखा इन पापी नयनोंसे अविचल,
उन्मत्त वासना दौड़ पड़ी तव मुख-मण्डलकी ओर चपल?
क्या जान सकी थीं उस क्षणमें,
निज विमल हृदयके दर्पणमें
कुछ पड़ी निशानी-सी आकर मेरे निःश्वासोंकी छाया,
धरतीकी कुज्झटिका करती ज्यों धूमिल ऊषाकी काया।

लज्जाने तभी अकारण आ,
रक्तिम आवरण वसन-सा छा,
चाहा क्या तुम्हें छिपा लेना मेरे इन नयनोंसे प्रलुब्ध?

मम हृदय - लालसा मोह - चपल,
श्यामल भ्रमरी-सी निपट विकल,
तव दृष्टि-मार्गसे क्या लौटी, गुन-गुन कर रोती हुई क्षुब्ध ?

मैं लाया हूं यह तीक्ष्ण छुरी, उद्दीप्त प्रभात-किरणके सम ;
लो इसे, और दो फोड़ अभी वासना-सघन ये लोचन मम।

ये आँखें तनमें नहीं कहीं, विकसी हैं ये मर्मस्थलमें,
निर्वाण-हीन अंगार सदृश निशि-दिन जलतीं उस-अंचलमें।
तुम लो उपाड़, हाँ, उस थलसे अब ये ज्वालामय दो लोचन,
है जिनको प्यास तुम्हारी ही, वे आज तुम्हींको हों अर्पण।

निःसीम भुवन, समुदार गगन, तरु-सघन श्याम कानन-अंचल,
मधुमय मधुऋतुकी मुग्ध मूर्ति, निर्मल सरिताका जल चंचल,
बहु - वर्ण - विरञ्जित संध्या घन, ग्रह-तारामय निस्तब्ध निशा,
शोभामय श्यामल शस्य-क्षेत्र, बहु दूर प्रसारित व्याप्त दिशा,
नीले नभमें घनतर सुनील अति दूर विराजित गिरि-माला,
उसके पर-पार दिनेश-उदय उद्दीपित कनक-किरण-ज्वाला,
वह पूर्ण इन्द्र-धनुकी सुषमा, वह तड़ित-चकित अति सघन देह,
शारद नभ-मण्डलमें असीम विकसित शशिभाकी धवल देह,
ले लो यह सब, लो छीन अभी, विनती करता अकपट होकर,
दो तिमिर - तूलिका फेर अभी मेरे आकाश-चित्रपटपर !

ये मुझे भुला फुसला करके, किस ओर खींचते ले जाते !
इनकी मदिरा कर पान, प्राण निज-पथ पहचान नहीं पाते।
चाहते बजाना ये मानो मुझसे मेरी बाँसुरी छीन,
पागल-सा रचता नये गीत मैं छेड़-छेड़ तानें नवीन।
अपनी ही ललित रागिनी सुन अपना मानस मोहित अधीर,
करती निमग्न ज्यों कुसुम-गन्ध क्रीड़ा-रत वासन्ती समीर।
हैं घेर बैठते मुझे फूल, नभ पकड़ बैठता मुझे, आह,
किस भाँति पैठती क्या-जाने सारे मनमें ज्योत्स्ना-प्रवाह !
पड़ती है निकल भुवनमें से यह भुवन-मोहिनी छवि-माया,
यौवन उमङ्गसे भुज पसार करती परिवेष्टित मम काया।
मेरे आगे-पीछे फिरतीं कितनी विकल्प - प्रतिमाएँ नित,
मैं कुसुम-वनोंमें हो विभोर, घूमा करता हूं सम्मोहित !
उर-तन्त्री शिथिल हुई आती, करसे वीणा खिसकी जाती,
बरसों बीते, हरि-नाम-राग अब कुछ भी वह न बजा पाती।
हरि-हीन अनाथ वासना मम प्यासी फिरती है जग-भरमें,
बढ़ रही प्यास, मैं तड़प रहा, तट-विरहित खारे सागरमें !
वह प्यास लपककर गई देवि, तव रूप-माधुरीके तटपर,
आँखोंके सँग ही आँखोंकी हर लो सदैवको प्यास प्रखर।

इन्द्रियके द्वारा तव प्रतिमा पैठी है जीवन मूल-मध्य,
कर खण्ड-खण्ड इस चाकूसे, तुम लो उपाड़ वह मूर्ति बध्य !
तममें विलीन हो जायेगा सौन्दर्य निखिल उसके ही सँग,
लक्ष्मी जायेगी, साथ-साथ जायेगा छाया-सा सब जग।

जाता है, जाय, न बह सकता मैं मूर्ति-स्रोतमें ही केवल,
आलोक-मग्न यह मूर्ति-लोक, लो मुझे उठा इससे इस पल।
आँखें जायेंगी तो मेरी सीमा जायेगी, एकाकी
मेरे असीम तममें विलीन होगी नभ-पृथ्वीकी झाँकी।
आलोक-हीन उस अति विशाल उरमें होगा मम विजन वास,
बैठूँगा निज प्रलयासनपर मैं तीसों दिन बारहो मास।

ठहरो, मैं अभी नहीं समझा, कुछ सोच-समझ तो लूँ इसपर,
यह विश्व-विलोपक निर्मल तम क्या बना रहेगा सदा अमर?
अथवा क्रमशः धीरे-धीरे प्रकटेंगे घन - तमके भीतर
आनन पुनीत, माधुर्य - मूर्ति, सुस्निग्ध विलोचन - इन्दीवर?
तुम सम्मुख खड़ी हुई जैसे देवीकी प्रतिमा - सी सुन्दर,
स्थिर-गम्भीर-करुण नयनोंकी टकटकी लगा मेरे ऊपर,
वातायनसे संध्या - किरणें आकर ललाटको चूम रहीं,
घन-निविड़-तिमिर-से केशोंमें नव मेघ-प्रभा है झूम रही,
यह शान्ति-रूपिणी तव प्रतिमा, अभिनव अपूर्व शोभा-सज्जित,
उद्दीप्त - अनल - रेखाओंमें तममय निशिमें होगी विकसित।
हे देवि, तुम्हारे सभी ओर नव जगत स्वतः होगा निर्मित,
संध्या - शोभा तुमको घेरे चिरकाल रहेगी समुपस्थित।
यह वातायन, यह चम्पक-तरु, सरयू - जल - रेखा दूरागत,
निशि-दिनसे रहित अन्ध उरमें ये दिखलाई देंगे सन्तत।
उस नव्य जगतमें काल-स्रोत या परिवर्तन है कहीं नहीं,
यह दिवस आजका बन अनन्त चिरकाल रहेगा बना वहीं।

क्या हानि, यही होने दो अब, होओ न विमुख, हे देवि सदय,
मम उर-नभमें हो जागरूक तव देह-हीन नव-ज्योति-निचय।
छाया कलङ्ककी डालेंगे उसपर न नयन वासना-मलिन,
तमसावृत उरको नीलोत्पल होगा उपलब्ध सदा सब दिन।
तुममें निज देव निहारूँगा, तुममें हरिको पहचानूँगा,
आलोक तुम्हींसे पाऊँगा, अपलक अनन्त निशि जागूँगा।

अभिसार

(बोधिसत्त्वावदान-कल्पलता)

संन्यासी उपगुप्त

एक बार मथुरा नगरीके
दृढ़ प्राचीर - तले थे सुप्त;
बुझे दीप, खा व्यजन पवनके,
रुद्ध द्वार थे पौर - भवनके,
सघन गगन-पटमें सावनके
नैश तारकाएँ थीं लुप्त।
किसके नूपुर-शिञ्जित पदयुग
सहसा बजे वक्षमें आज
चौंक चकित संन्यासी जागे,
स्वप्न - जाल पलकोंसे भागे,
क्षमा - मञ्जु नयनोंके आगे
रूढ़ दीप था रहा विराज।

नगर - नटी अभिसार हेतु थी
जाती यौवन - मद - मत्ता।
नीलवर्ण था अंचल चंचल,
मृदु-मुखरित आभरण समुज्ज्वल,
संन्यासीपर पड़ा चरण - तल,
ठिठक पड़ी वासवदत्ता।
ले प्रदीप निरखा तब उसने
उनका गौरवर्ण, नव - कान्ति।
सौम्य सहास तरुण वय उत्तम,
करुणा-किरण-विकच दृग अनुपम,
हिमगिरि-शुभ्र-भालपर विधु-सम
उद्भासित सुस्निग्ध सुशान्ति।
ललित कण्ठसे बाला बोली,
लज्जासे झुक पड़े नयन,
"क्षमा करो अविनय, किशोरवर,
हो यदि सदय, चलो मेरे घर,
कठिन कठोर धरा - शय्यापर
श्रेयस्कर है नहीं शयन।"
करुण वचन बोले संन्यासी,
"अयि लावण्य - मधुरिमा-पुंज।
अभी नहीं आया वह अवसर,
जहाँ चली हो, जाओ सत्वर,
आऊँगा उपयुक्त समयपर,
सुन्दरि, स्वयं तुम्हारे कुंज।"

सहसा शान्त वदन - मण्डलपर
झलका विद्युत - शिखा - प्रकाश ।
डरकर बाला काँपी थरथर,
बजा वायुमें शंख लयंकर,
सोपहास पवि अट्टहास्य कर
गरजा, गूँज उठा आकाश ।
वर्ष व्यतीत न होने पाया,
आई मधु - ऋतुकी संध्या ।
बहा समीरण केलि - कलाकुल,
पथ - तरुओंमें लसे मुकुल-कुल,
राज - वनों में फूले पारुल,
बकुल और रजनीगन्धा ।
पवन ला रही थी सुदूरसे
मदिर - मन्द्र वंशीकी तान ।
थी जन - हीन पुरी, सब पुरजन
गये कुसुम - उत्सवमें मधुवन,
हँसता था लख नगरी निर्जन,
नीरव पूर्ण चन्द्र छबिमान ।
निर्जन ज्योत्स्नालोकित पथके
पथिक आज दण्डी एकान्त ।
स्वर - लहरीसे भर तरु - वीथी
कोयल कूक - कूक उठती थी,
क्या अभिसार - निशा आई थी
यह इतने दिनके उपरान्त ?

गये नगरके बाहर दण्डी
जिस थल थी प्राचीर खड़ी।
परिखा - पार आम्र-वनके घन-
तममें खड़े हुए जा तत्क्षण,
अरे, कौन यह, रमणी उन्मन
थी उनके पग - निकट पड़ी।
दारुण रोग - पीड़िता थी वह
भरा फफोलोंसे सब अंग।
मसि-सम था विवर्ण तनु जर्जर,
पौर-जनोंने उसको लाकर
फेंक दिया था पुरके बाहर
तजकर उसका विषमय संग।
बैठ, झुका सिर, संन्यासीने
लिया अंकमें उसे निशंक।
शुष्क अधरमें कर जल - सिञ्चन,
किया शीशपर मंत्रोच्चारण,
गलिताङ्गोंपर किया विलेपन
स्वकरों शीतल चन्दन - पंक।
झरते फूल, कूकती कोयल,
रजनी थी ज्योत्स्ना - मत्ता।
"आये हो तुम कौन दयाकर!"
बोली नारी, मिला सदुत्तर,
"आज रात आया वह अवसर,
आया हूं (मैं) वासवदत्ता!"

दुःसमय

यद्यपि दिवसावसान क्रमशः है भासमान,
रुके गीत-वाद्य किसी इंगितके द्वारा,
यद्यपि नभमें अशेष संगी कोई न शेष,
श्रमसे हो श्रान्त क्लान्त अंग-अंग हारा,
घूँघट-पटमें विलीन दिग्वधुएँ रव-विहीन
यद्यपि जपतीं समंत्र शंका भय नाना,
तो भी एरे विहंग, सुन रे मेरे विहंग,
हो न अन्ध, कर न बन्द पंख फड़फड़ाना।

मर्मर-गुञ्जित प्रशान्त यह न मुखर वन्यप्रान्त,
गर्जनमय सिन्धु-सर्प यह है लहराता।
यह न कुन्द-कुसुम-पुञ्ज-रंजित मंजुल निकुञ्ज,
फेनिल हिल्लोल घोर इसमें लहराता।
ओढ़े पुष्पित दुकूल किस थल वह मञ्जु कूल,
आश्रय-थल कहाँ आज नीड़का ठिकाना ?
तो भी एरे विहंग, सुन रे मेरे विहंग,
हो न अन्ध, कर न बन्द पंख फड़फड़ाना।

दीर्घाकृति अति कराल सम्मुख है रात्रि-काल,
अरुण सुप्त है सुदूर अस्ताचल जाके।
विश्व-जगत रोक साँस स्तब्धासनपर उदास
गिनता है घड़ी-दण्ड जन-विहीनताके।

दीख रहा सभी ओर कूलहीन तिमिर घोर,
वक्र चन्द्र खड़ा, धार प्रहरीका बाना।
तो भी एरे विहंग, सुन रे मेरे विहंग,
हो न अन्ध, कर न बन्द पंख फड़फड़ाना।

ऊपर उडुगण अवाक तेरा मुँह रहा ताक,
ऊँगली संकेत-पूर्ण तुझीपर उठाता।
नीचे विस्तृत गभीर मृत्यु-सिन्धु अति अधीर
सौ-सौ लहरें उछाल तेरे प्रति धाता।
दूरसे रहा पुकार कौन तुझे बार-बार
सकरुण आह्वान-पूर्ण गा-गाकर गाना।
तो भी एरे विहंग, सुन रे मेरे विहंग,
हो न अन्ध, कर न बन्द पंख फड़फड़ाना।

रे, न कहीं ईति-भीति, कुछ न स्नेह मोह प्रीति
आशाका है न लेश, आशा है छलना।
भाषा भी नहीं, व्यर्थ क्रन्दनका कुछ न अर्थ,
रे, न कहीं गेह औ' न पुष्प-सेज-रचना।
हैं केवल पंख और व्योमका अछोर ठौर,
ऊषा खोई, वितान यों तमने ताना।
तो भी एरे विहंग, सुन रे मेरे विहंग,
हो न अन्ध, कर न बन्द पंख फड़फड़ाना।

होली

केसर खाँको यह पत्र आज लिख बैठीं
केतुनपुरसे भूनाग नृपतिकी रानी,
"क्या लड़कर पानी फिरा, मियाँ, आशापर ?
यह मधुऋतु यों ही बीत रही है सुन्दर,
आ जाओ स्वीय पठान सैन्य-दल लेकर,
होली आ खेलो यहाँ राजपूतानी।"
हतशक्ति युद्धमें हार, शहर कोटा तज
केतुनसे बैठीं भेज पत्र यह रानी।

केसर पढ़कर यह पत्र खिलखिला उट्ठे,
खुश होकर मनमें ताव दिया मूँछोंपर।
रंगीन मुड़ासा बाँध शीशा मटकाया,
आँखोंको सुरमा डाल-डाल चमकाया,
करमें ले लिया रुमाल सुगन्ध-बसाया,
दाढ़ी झाड़ी सौ बार खूब झटकाकर।
रानी खेलेंगी फाग पठानोंके सँग !
केसरने हँसकर ताव दिया मूँछोंपर।

फागुनका है मधु-मास, बकुल-वन फूले,
दक्षिणकी उन्मद पवन रंग है लाई।

वन वन रसालमें खिलीं मंजु मञ्जरियाँ,
सुनता है किसकी कौन, मधुकरावलियाँ
मन ही मन गुंजन निरत, समुद रँगरलियाँ
करती-सी फिरतीं इधर-उधर मँडराई।
सज-धजकर खूब पठान-सैन्यकी टोली
केतुनमें होली आज खेलने आई।

केतुनपुरके रमणीक राज-उपवनमें
संध्याकी थी यह अभी झुटपुटी बेला।
आ-आ जम गये पठान यहाँ अति मानी,
वंशीने छोड़ी तान मधुर मुलतानी,
आईं सखियाँ सौ-एक राजपूतानी,
खेलेंगी होली, खूब जमेगा मेला।
रवि रक्त-रागसे लाल-लाल था इस क्षण,
संध्याकी थी यह अभी झुटपुटी बेला।

पग घेर घाँघरे घूम झकोले खाते,
ओढ़नियाँ देतीं उड़ा हवा दीवानी।
थाली गुलालकी एक हाथमें शोभित,
झारी गुलाबकी अपर हाथमें राजित,
कटिमें पिचकारी झूल रही आलम्बित,
आईं बालाएँ वहाँ राजपूतानी।
पग घेर घाँघरे घूम झकोले खाते,
ओढ़नियाँ देतीं उड़ा हवा दीवानी।

कनखियाँ मारकर, हँसी रँगीली हँसकर
केसरने आकर निकट कही यह वाणी,
"जीते रण, मुझको मार सका कोई कब ?
पर दृग-वाणोंने मुझे मार डाला अब !"
सुन, मार ठहाका विहँस पड़ीं सबकी सब
सौ-एक दासियाँ वहाँ राजपूतानी।
पग्गड़ समेत निज शीश नचा-मटकाकर
केसर खाँने आदाब किया लासानी।

अब होलीका आरम्भ हुआ हुड़दंगा,
छाया गुलाल उड़ लाल सान्ध्य अम्बरमें।
नव बकुल-दलोंमें रक्त-रेणु सरसाई,
तरु-मूलोंमें रज लाल अनूप सुहाई,
विहगोंने अपनी सरस तान बिसराई
उन बालाओंके उच्च-हास्यके स्वरमें।
कुञ्झटिका रक्तिमवर्ण कहींसे आकर
मानो छाई रक्ताभ लाल अम्बरमें।

'आँखोंमें क्यों न सरूर आज आता है !'
मन ही मन केसर सोच रहे हैं रह-रह,
"दिल क्यों न झूमता, क्यों न मस्तियाँ आतीं,
इन परियोंकी मुझको न पायलें भातीं,
कैसा लो है बेसुरा अलाप बजातीं,
है ठनक कंगनोंकी न आज वैसी यह !'

'आँखोंमें क्यों न सरूर आज आता है ?'
मन-ही-मन केसर सोच रहे हैं रह-रह।

सोचा पठानने, 'राजपूत औरतमें
यह क्या कि नजाकत जरा न कहीं झलकती ?
बाहोंमें नरमी नहीं कवँल-ककड़ीकी,
क्या गला कि होती मात कड़क बिजलीकी,
आजाद, गठीली, सख्त, रंगकी फीकी,
ये रेगिस्तानी लतर सरीखी लगतीं !'
सोचा पठानने, 'राजपूत औरतमें
यह क्या कि नजाकत जरा न कहीं झलकती ?"

ईमन - भूपाली तान छेड़ मस्तानी,
द्रुत ताल सहित बाँसुरी बजी दीवानी।
मुक्ता-लड़ियोंको झुला दमकते कुण्डल,
थे कठिन करोंमें कड़े स्वर्णके उज्ज्वल,
सँगमें गुलालके थाल लिये दासी-दल,
उपवनमें आईं सजी-धजी यों रानी॥
ईमन - भूपाली तान छेड़ मस्तानी,
द्रुत ताल सहित बाँसुरी बजी दीवानी॥

केसर बोले, "बस, राह तुम्हारी तकतीं
ये आँखें मेरी तड़प-तड़प पथराईं।"

रानी बोलीं, "ये प्राण इधर भी ससके !"
सो सखियाँ दुहरी हुईं वहाँ हँस-हँसके,
रानीने थाली खींच मार दी कसके,
केसरके सिरसे वेग-सहित टकराई !
वह निकली उत्स-समान रक्तकी धारा,
आँखें केसरकी फिरीं और पथराईं।

ज्यों वज्रपात हो बिना मेघके, त्यों ही
बज उठे नगाड़े तुमुल निनाद गुँजाते।
ज्योत्स्नामय नभमें चमक उठे शशि-तारे,
झलमला झनझना उठीं वहाँ तलवारें,
शहनाई - वाले बैठ निकुञ्ज - किनारे
कन्नड़ा राग थे मन्द्र - स्वरोंमें गाते।
वहु विटप-राजिके तले सघन उपवनमें
बज उठे नगाड़े विकट निनाद गुँजाते।

क्या बही पवन, उड़ गईं ओढ़नी सारी,
गिर गये घाँघरे फिसल नाभि-कूलोंसे।
किस भाँति वहाँ किन मंत्र-शक्तियोंके बल
पल-भरमें तजकर नारि-रूपका वह छल
सौ वीर खड़े थे घेर पठानोंका दल.
मानो निकले सौ सर्प खिले फूलोंसे।
सपने - जैसी उड़ गईं ओढ़नी सारी,
गिर गये घाँघरे फिसल नाभि-कूलोंसे।

जिस पथसे मत्त पठान यहाँ आये थे,
उस पथसे फिर वह गई न उनकी टोली।
फागुनकी निशिमें सघन निकुञ्ज-सदनमें
पिक कूक रही अविराम मत्त हो मनमें,
केतुनपुरके रमणीक बकुल-काननमें
केसरकी हुई समाप्त रँगीली होली।
जिस पथसे मत्त पठान यहाँ आये थे,
उस पथसे फिर वह गई न उनकी टोली।

अरूप रतन

पैठा हूं मैं रूप-सिन्धुमें पानेको अरूप मुक्ता-धन,
घाट-घाटपर अब न फिरूँगा अपनी जीर्ण तरी ले उन्मन,
डूबूं उतराऊँ लहरोंपर, रहा नहीं अब इसका अवसर,
अतल सुधा-सागर-तलमें जा मरकर अमर करूँगा जीवन।

कानोंमें जो गीत न जाते, वे ही गीत जहाँ नित सरसित,
जाऊँगा उस अतल-सभामें लेकर जीवन-वीणा सस्मित,
चिरकाल क स्वर करके गुम्फित अन्तिम क्रन्दन कर उच्चारित
नीरव वीणा चिर-नीरवके चरणोंपर कर दूंगा अर्पित।

अपरिचिता

१

आज मेरी उमर सिर्फ सत्ताईस सालकी है। यह जीवन न तो लम्बाईके हिसाबसे बड़ा है और न गुण या तजुरबेके खयालसे। फिर भी, इसकी एक खास कीमत है। मेरा यह जीवन उस फूलके समान है जिसके हृदयमें भौंरा बैठ चुका हो, और उसके कदमोंका इतिहास उसके जीवनमें फलकी तरह पनपने लगा हो।

वह इतिहास आकारमें छोटा है; उसे मैं छोटे ही रूपमें लिखूँगा। छोटेको जो लोग ममूली समझकर गलती नहीं करते वे इसका रस जरूर समझेंगे।

कॉलेजमें जितनी भी परीक्षाएँ होती हैं, मैं सब खतम कर चुका हूं। बचपनमें, पाठशालाके पंडितजीने भी, मेरे सुन्दर चेहरेसे सेमलके फूल और इन्द्रायन फलकी तुलना करके मेरा मजाक उड़ानेमें कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी थी। इससे तब मैं बहुत शर्मिन्दा होता था; पर बड़ा होकर अब बराबर यही सोचा करता हूं कि अगर जन्मान्तर होता हो, तो, भगवान करें, मेरे चेहरेका सौन्दर्य और पंडितजीके मुँहका मजाक फिर इसी तरह प्रकट होता रहे।

मेरे पिता किसी समय बिलकुल गरीब थे। वकालत करके उन्होंने काफी रुपया कमाया था; पर उसे भोगनेकी फुरसत उन्हें कभी मिली ही नहीं। मरते समय जो उन्होंने आखिरी साँस छोड़ी, वही उनकी पहली छुट्टी थी।

मेरी तब बहुत कम उमर थी। माने ही मुझे पाल-पनास कर बड़ा किया। मा गरीब-घरकी लड़की थीं, इसलिए, इस बातको न तो वे खुद ही भूलीं कि हम अमीर हैं, और न मुझे ही कभी भूलने दिया। बचपन मेरा गोद-ही-गोदमें बीता था; शायद इसीसे मेरी कभी पूरी उमर ही नहीं हुई। आज भी मुझे देखकर यही मालूम होगा कि मैं अन्नपूर्णाकी गोदमें गजाननका छोटा भाई ही हूं।

मेरे असल अभिभावक हैं मेरे मामा। वे मुझसे ज्यादासे ज्यादा छै साल बड़े होंगे। लेकिन फल्गु-नदीकी बालूकी तरह उन्होंने हमारी सारी घर-गृहस्थीको अपने अंदर सोख लिया है। उन्हें बगैर खोदे यहाँका एक घूँट रस भी कोई नहीं पा सकता। यही कारण है कि किसी भी बातके लिए मुझे कोई चिन्ता ही नहीं करनी पड़ती।

प्रत्येक कन्याके पिताको यह मंजूर करना ही पड़ेगा कि मैं एक अच्छा पात्र हूं। तम्बाकू तक नहीं खाता-पीता। भला-आदमी होनेमें कोई भी झंझट नहीं, इसलिए मैं बहुत ही भलामानस हूं। माकी आज्ञा पालन करनेकी ताकत मुझमें है; बल्कि सच तो यह है कि न-पालन करनेकी ताकत मुझमें कतई नहीं। अन्तःपुरके शासनाधीन चलने लायक ही मैं बनाया गया हूं। अगर कभी कोई कन्या स्वयंवरा हो, तो उसे मेरे इस सुलक्षणको याद रखनी चाहिए।

कितने ही बड़े-बड़े घरोंसे मेरी सगाई आई। मगर मामाका, जो कि संसारमें मेरे भाग्यदेवताके सोल-एजेण्ट हैं, सगाई-संबंधके

बारेमें एक खास मत था। धनाढ्यकी कन्या उन्हें पसंद नहीं थी। और मजा यह कि धनके प्रति आसक्ति उनकी नस-नसमें समाई हुई थी। वे ऐसा समधी चाहते थे कि जो धनी न हो किन्तु धन देनेमें कोई कसर न रखे। यानी, जिसे शोषण तो किया जा सके, किन्तु अपने घर आनेपर खातिर-तवज्जह न भी की जाय तो उसकी तरफसे कोई शिकायत न चल सके।

मेरा एक मित्र कानपुरमें काम करता है। छुट्टियोंमें कलकत्ता आकर उसने मेरे मनको उतावला कर दिया। उसने कहा— "भई, लड़की तो मैंने देखी है एक, क्या बात है!"

कुछ ही दिन पहले मैंने एम० ए० पास किया है। सामने जहाँ तक निगाह दौड़ सकती है, छुट्टी-ही-छुट्टी नजर आती है। परीक्षा नहीं, उम्मेदवारी नहीं, नौकरी नहीं, अपनी जायदाद सम्हालनेकी कोई चिन्ता नहीं, कुछ सीखना नहीं, कोई इच्छा भी नहीं; होनेमें, भीतर हैं एक मा और बाहर हैं मामा।

छुट्टीकी इस मरुभूमिमें मेरा हृदय तब विश्वव्यापी नारी-रूपकी मरीचिका देख रहा था; आकाशमें उसकी दृष्टि थी, हवामें उसकी साँस थी और पेड़ोंकी मर्मरध्वनिमें थी उसकी गुप्त बातें।

इतनेमें हरिशने आकर कहा—"लड़की तो मैंने देखी है—" मेरा शरीर-मन वसन्तकी हवामें बकुलवनके नये पत्तोंकी तरह काँपता हुआ धूप-छाया बुनने लगा। हरिश बड़ा रसिक था, रस उँडेलकर वर्णन करनेकी शक्ति उसमें अद्भुत थी, और मेरा मन था प्यासा। मैंने हरिशसे कहा—"एक बार मामासे जिकर तो छेड़ो।"

हरिश मजलिस जमानेमें अपना सानी नहीं रखता। इसलिए सर्वत्र उसकी खातिर है। मामा भी उसे पा जाते तो पीछा नहीं छोड़ते। बात उनकी बैठकमें छिड़ गई। लड़कीकी अपेक्षा लड़कीके बापकी खबर ही उनके लिए ज्यादा दिलचस्प थी। बापकी हालत वैसी ही है जैसी कि वे चाहते थे। किसी जमानेमें उनके वंशमें लक्ष्मीका मंगल-घट ऊपर तक भरा था। अब उसे रीता कहा जा सकता है, हालाँकि उसके नीचे अब भी थोड़ा-बहुत बाकी बचा है। देशमें खानदानी-इज्जत बचाते हुए चलना जब उनके लिए आसान न रहा तो वे कानपुर जाकर रहने लगे। वहाँ वे गरीब गृहस्थ जैसे ही रहते हैं। एक लड़कीके सिवा उनके और कोई नहीं। लिहाजा, एक उसीके पीछे लक्ष्मीका घट बिलकुल उँडेल देनेमें उन्हें कोई दुविधा नहीं हो सकती।

यह-सब बात तो ठीक है ; पर लड़कीकी उमर पन्द्रह सुनकर मामाका मन जरा उदास हो गया। 'वंशमें तो कोई दोष नहीं ?' नहीं, कोई दोष नहीं। बापको अपनी लड़कीके कहीं लायक लड़का नहीं मिल रहा। एक तो लड़कोंका बाजार बहुत महँगा है, उसपर शर्तोंका बोझ, इसलिए बापको बराबर सब्र करना पड़ रहा है ; किन्तु लड़कीकी उम्रको जरा भी सब्र नहीं।

कुछ भी हो, हरिशकी सरस रसनामें गुण है। मामाका मन नरम हो गया। विवाहकी भूमिका बिना विघ्नके सम्पन्न हो गई। कलकत्ताके बाहर बाकीकी जो दुनिया है, मामा उसे अण्डमन-द्वीपमें ही शामिल समझते हैं। जिन्दगीमें सिर्फ एक बार वे किसी खास कामसे, हवड़ासे छै-सात मील दूर, उत्तरपाड़ा

गये थे। मामा अगर मनु होते, तो हवड़ा-पुल पार होनेको अपनी संहितामें बिलकुल निषिद्ध ही कर देते। भीतरसे मेरी तबीयत फड़फड़ा रही थी कि किसी तरह एक बार अपनी आँखोंसे लड़की देख आता। पर कहनेकी हिम्मत न हुई। लड़की देखकर सगाई पक्की करनेके लिए जिन्हें भेजा गया, वे थे मेरे फुफेरे भाई, विनय भाई-साहब। उनकी राय रुचि और दक्षता पर मैं पूरा भरोसा कर सकता हूं। विनय भाई-साहबने वापस आकर कहा—"बुरी तो नहीं है। पक्का सोना समझ लो।" विनय भाई-साहबकी भाषा बहुत ही चुस्त होती है। जहाँ हम 'लाजवाब' कहेंगे, वहाँ उनके मुँहसे 'काम-चलाऊ' ही निकलेगा। लिहाजा, मैं समझ गया कि मेरे भाग्यमें प्रजापतिके साथ पंच-शर का कोई विरोध नहीं; यानी, मेरा जीवन दाम्पत्य-सुख और काव्य-रसमें पगकर ऐसा मधुर हो उठेगा कि लोग ईर्ष्या करेंगे।

२

कहनेकी जरूरत नहीं कि विवाहके लिए कन्या-पक्षको ही कलकत्ता आना पड़ा। कन्याके पिता शम्भूनाथ बाबू हरिशका कितना विश्वास करते हैं इसका सबूत इसीसे मिल जाता है कि ब्याहके सिर्फ तीन दिन पहले कलकत्ता आकर उन्होंने पहले-पहल मुझे देखा और तिलक कर गये। उमर उनकी चालीसके लगभग होगी। सिरके बाल काले, मूँछोंपर कुछ-कुछ सफेदी आने लगी है। डील-डौलके अच्छे, सुपुरुष लगते हैं। भीड़में देखा जाय तो सबसे पहले उन्हींपर नजर पड़ेगी।

मैं समझता हूं, मुझे देखकर वे खुश ही हुए होंगे ; हालाँकि समझना मुश्किल है, क्योंकि उनकी प्रकृति बड़ी गंभीर है, बोलते बहुत कम हैं। जो भी दो-एक बात कहते हैं, मानो उसपर वे पूरा जोर नहीं लगाते। मामाकी जबान तब सरपट दौड़ रही थी ; हर बातमें वे हमारे खानदानकी महिमाका बखान करते चले जा रहे थे। पर शम्भूनाथ बाबू उनकी बातोंमें कोई दिलचस्पी ही नहीं ले रहे थे ; उनके मुँहसे 'हाँ' 'हूं' कुछ भी निकलते नहीं सुना। मैं होता तो दहल जाता। लेकिन मामाको दहलाना कठिन है। उन्होंने शम्भूनाथ बाबूको चुपचाप देखकर समझ लिया कि समधी बिलकुल ही निर्जीव हैं, जरा भी तेज नहीं। समधी-सम्प्रदायमें और चाहे जो भी हो, पर तेज होना अच्छा नहीं ; लिहाजा मामा मन-ही-मन खुश ही हुए। शम्भूनाथ बाबू जब उठके जाने लगे, तब मामाने संक्षेपमें ऊपरसे ही उन्हें विदा कर दिया, नीचे उनकी गाड़ी तक पहुंचाने नहीं गये।

दहेजके सम्बन्धमें दोनों पक्षोंमें पक्की बात हो चुकी थी। मामा अपनेको असाधारण चतुर समझते हैं ; और इस बातका उन्हें अभिमान भी है। बातचीतमें उन्होंने कहीं भी ऐसी संध नहीं रखी जहाँसे कुछ चूकर निकल जाय। रुपयोंकी गिनती तो तय हो ही चुकी थी, उसपर गहनोंका वजन और सोना कौनसा होगा इस बातका भी खुलासा हो गया था। मैं खुद इन सब बातोंमें नहीं था ; तब न मुझे कुछ मालूम ही था कि क्या देना-लेना तय हुआ। मनमें इतना समझता था कि ये सब मोटी-मोटी बातें भी विवाहका एक अंश हैं, और जिनपर इसका

भार है उन्हें कहींसे भी कोई रत्ती-भर ठग नहीं सकता। वास्तव में आश्चर्यजनक पक्के आदमी होनेकी वजहसे मामा हमारे घरके एक खास गर्वकी चीज थे। जहाँ हमारा जरा भी कुछ सम्बन्ध है वहाँ सर्वत्र ही वे बुद्धिकी लड़ाईमें जीतेंगे यह बिलकुल मानी हुई बात है। इसलिए हमारे यहाँ कमी किसी बातकी न होनेपर भी और दूसरी तरफ काफी कमी और परेशानियाँ होनेपर भी जीतेंगे हम ही – हमारे घरकी यही जिद थी, फिर इससे चाहे कोई बचे या मरे।

'तेल' इतने ठाट-बाटके साथ भेजा गया कि लोगोंको दाँतों उंगली दबानी पड़ी। इतने वाहक भेजे गये कि उनकी गिनतीके लिए मुनीम रखना पड़े। उन्हें विदा करनेमें दूसरे पक्षको कितनी परेशानी उठानी पड़ेगी – इस बातका खयाल करके मा और मामा दोनों मिलकर खूब हँस लिये।

बैण्ड बाजा, रोशनचौकी, कन्सर्ट आदि जहाँ जितने तरहके ऊँचे शब्द थे उन सबको इकट्ठा करके बर्बर-कोलाहलरूपी मदोन्मत्त हाथीके पाँव-तले संगीत-सरस्वतीके कमल-वनको तहस-नहस करता हुआ मैं विवाह-मण्डपमें जा पहुंचा। हीरा-मोतियोंके कण्ठों और अंगूठियोंसे मुझे ऐसा लाद दिया गया जैसे मैं किसी जौहरीकी चलती-फिरती दूकान होऊं। मानो भावी दामाद अपने भावी ससुरसे मुकाबिला करने चला हो कि तुम बड़े या हम बड़े!

मामा लड़कीवालोंके घर पहुंचकर खुश नहीं हुए। एक तो आँगनमें इतनी जगह नहीं जहाँ सब बाराती बैठ सकें, दूसरे

तैयारियाँ बहुत ही मामूली दिखाई दीं। और मुंहकी बोलचाल हो, सो भी नहीं। शम्भूनाथ बाबूके एक वकील मित्र, जो कि देखनेमें स्याह काले और मोटे-भद्दे, फटा गला, गंजी चाँद, कमरसे दुपट्टा लपेटे थे, हाथ-जोड़े इधरसे उधरदौड़-दौड़कर गद्गद वचनोंसे हँस-हँसकर बाजेवालोंसे लेकर बाराती तक सबकी खातिर न करते तो शायद शुरूमें ही मामा लङ्का-काण्ड शुरू कर देते।

मेरे मण्डपमें बैठनेके कुछ ही क्षण बाद मामा शम्भूनाथ बाबूको कोनेवाले कमरेमें बुला ले गये। क्या बात हुई पता नहीं, कुछ ही क्षण बाद शम्भूनाथ बाबूने मुझसे आकर कहा—"बेटा, जरा इधर आना।"

बात यह थी। सबका न सही, पर किसी-किसी आदमीके जीवनका कुछ-न-कुछ लक्ष्य होता है। मामाके जीवनका लक्ष्य था, वे किसी भी हालतमें किसीसे ठगाये नहीं जायँगे। उन्हें डर था कि समधी उन्हें दहेजके गहनोंमें धोखा दे सकते हैं; और ब्याह हो जानेके बाद फिर उस धोखेबाजीका कोई प्रतिकार नहीं हो सकता। मकान-किराया, सौगात, विदाई वगैरहमें जैसी खींचातानी की जा रही थी उससे मामाको शक होने लगा कि देन-दहेजके मामलेमें इस आदमीकी जबानका भरोसा करके कहीं धोखा न उठाना पड़े! इसलिए वे अपने घरके सुनारको साथ लेते आये थे। कोनेवाले कमरेमें जाकर देखा, मामा एक तख्तपर बैठे हैं; और सुनार अपना काँटा और कसौटी वगैरह लिये जमीनपर बैठा है।

शम्भूनाथ बाबूने मुझसे कहा—"तुम्हारे मामा कहते हैं,

ब्याहका काम शुरू होनेके पहले वे लड़कीके सब गहने परख लेना चाहते हैं। इसमें, तुम्हारी क्या राय है ?"

मैं सिर झुकाये चुपचाप खड़ा रहा।

मामाने कहा—"ये क्या कहेगा, मैं जो चाहूंगा सो होगा।"

शम्भूनाथ बाबूने मेरी तरफ गौरसे देखा; और कहा—"क्या यही बात है ? जो ये कहेंगे सो ही होगा ? इस विषयमें तुम्हें कुछ नहीं कहना ?"

मैंने जरा-सी गरदन हिलाकर जता दिया कि इन सब बातोंमें मेरा कोई अधिकार नहीं।

"अच्छा तो बैठो। मैं लड़कीकी देहसे सब गहने उतार लाता हूं।" इतना कहकर वे उठ खड़े हुए।

मामाने कहा—"अनुपम यहाँ क्या करेगा ? उसे मण्डपमें जाने दीजिये।"

शम्भूनाथने कहा—"नहीं, मण्डपमें नहीं, यहीं बैठना होगा।"

कुछ देर बाद वे एक अंगोछामें गहने बाँधकर ले आये; और पोटली मामाके सामने तख्तपर रख दी। सारेके सारे गहने पुराने जमानेके थे। उनमें नई फैशनका काम तक न था; मोटे ठोस भारी-भारी गहने थे।

सुनारने दो-एक चीज हाथमें लेते ही कह दिया—"इनका क्या देखूं ? इनमें न खाद है, न कुछ, पक्का सोना है! अब तो ऐसा सोना देखनेमें ही नहीं आता।"—कहते हुए उसने एक मगर-मुंही कड़ा उठाकर मोड़कर दिखा दिया कि कितना नरम है।

मामा उसी वक्त अपनी नोट-बुकमें गहनोंकी गिनती और

ब्योरा लिखने लगे। उन्हें डर था कि बादमें दिखाये हुए गहनोंमें से कुछ निकाल न लिया जा । हिसाब लगाकर देखा कि जितने गहने देनेकी बात थी, उनसे ये गिनती दर और वजनमें कहीं ज्यादा और भारी हैं।

गहनोंमें एक जोड़ी ऐरनकी भी थी। शम्भूनाथ बाबूने उसे सुनारके हाथमें देते हुए कहा—"इसे भी जरा कस देखो।"

सुनारने कहा—"ये विलायती माल है, इसमें सोनेका हिस्सा बहुत कम है।"

शम्भूनाथ बाबूने ऐरनकी जोड़ी मामाके हाथमें देते हुए कहा—"इसे आप ही रखिये।"

मामाने उसे हाथमें लेकर देखा कि उन्हींकी दी हुई ऐरन है, गोद भरते वक्त दी गई थी।

मामाका चेहरा सुर्ख हो उठा। गरीब उन्हें ठगना चाहेगा, फिर भी वे ठगाये नहीं जायँगे,—इस आनन्दसे उन्हें बंचित होना पड़ा; और ऊपरसे कुछ दक्षिणा भी मिल गई। अत्यन्त गम्भीर मुंह बनाकर मुझसे बोले—"जाओ तुम, मण्डपमें जाकर बैठो।"

शम्भूनाथ बाबूने कहा—"नहीं, अभी मण्डपमें जानेकी जरूरत नहीं। चलिये, पहले आपलोगोंको जिमा-जुठा दूं।"

मामाने कहा—"सो कैसे होगा ? लग्न—"

शम्भूनाथ बाबू बीच ही में बोल उठे—"उसकी आप चिन्ता न करें। चलिये, उठिये।"

आदमी ऊपरसे निहायत भलामानस-सा लगता था; लेकिन अब देखा कि भीतर काफी जोर रखता है। मामाको मजबूरन

उठना पड़ा। बाराती सब जीम चुके। कोई आडम्बर नहीं था। रसोई अच्छी बनी थी; और सब तरफसे खूब सफाई होनेसे जीमकर सब तृप्त हुए।

बारात जीम चुकनेके बाद शम्भूनाथ बाबूने मुझसे जीमनेके लिए कहा। मामाने कहा—"सो कैसे हो सकता है? ब्याहके पहले दूल्हा कैसे खा सकता है?"

इस विषयमें मामाके मतकी बिलकुल उपेक्षा करके मेरी तरफ देखते हुए कहा—"तुम्हारी क्या राय है? बैठनेमें कोई दोष है?"

मूर्तिमती मातृ-आज्ञाके रूपमें मामा मौजूद थे; उनके विरुद्ध चलना मेरे लिए असम्भव था। मैं जीमने नहीं बैठ सका।

तब, शम्भूनाथ बाबूने मामाको नमस्कार करते हुए कहा—"आपलोगोंको काफी तकलीफ दी मैंने। हम अमीर नहीं हैं, आपलोगोंके लायक कुछ भी न कर सके, क्षमा कीजियेगा। काफी रात हो चुकी है, अब आपलोगोंको और-ज्यादा कष्ट नहीं देना चाहता। अब आप—"

मामाने कहा—"हाँ हाँ, अब मण्डपमें चलना चाहिए।"

शम्भूनाथ बाबूने कहा—"आपलोगोंके लिए सवारी बिलकुल तयार है।"

मामा मारे आश्चर्यसे दङ्ग रह गये, बोले—"मजाक कर रहे हैं क्या?"

शम्भूनाथ बाबूने कहा—"मजाक तो आप ही सब पूरा कर चुके, हमारे लिए छोड़ा कहाँ? अब उस मजाकके सम्बन्धको मैं चिरस्थायी नहीं करना चाहता।"

मामाकी आँखें फट गईं, चेहरा विकृत हो गया ; उनसे कुछ कहते ही न बना।

शम्भूनाथ बाबूने कहा—"जो ऐसा खयाल रखते हैं कि मैं अपनी लड़कीके गहने चुराऊंगा, उनके हाथ मैं अपनी लड़की हरगिज नहीं छोड़ सकता।"

मुझसे कुछ भी कहना उन्होंने जरूरी नहीं समझा। कारण, पहले ही यह साबित हो चुका था कि मैं कुछ भी नहीं।

उसके बाद जो हुआ, सो मैं नहीं कहना चाहता। झाड़ बत्ती सब तोड़-फोड़कर, चीज-वस्त सब पटक-फेंककर बारातियोंने दक्षयज्ञ पूरा किया ; और खोटी-खरी सुनाते हुए घर चले गये।

घर लौटते समय बैण्ड, रोशनचौकी, कनसर्ट कुछ भी नहीं बजा ; और अभरकके झाड़ आकाशके तारोंपर अपने कर्तव्यका भार सौंपकर कहाँ गायब हो गये कुछ पता ही नहीं चला।

२

घरके सब लोग आग-बबूला हो उठे। लड़कीके बापको इतना घमंड! घोर कलिकाल आ गया! सबने कहा, 'देख लेंगे अब लड़कीका ब्याह कैसे करता है!' लेकिन जिसके मनमें लड़कीके ब्याह न होनेका कोई डर ही नहीं, उसे कोई कैसे सजा दे सकता है?

देश-भरमें मैं ही एकमात्र पुरुष हूं, जिसे लड़कीके बापने विवाह-मंडपसे खुद लौटा दिया है। पर इतने बड़े सत्पात्रके ललाटपर इतने बड़े कलंकका टीका आज, इतने बाजे बजाकर, इतनी रोशनी करके, इतने समारोहके साथ किसने अंकित कर दिया? बाराती लोग यह कह-कहकर सिर धुनने लगे कि 'ब्याह

हुआ ही नहीं और शैतानने धोखा देकर हमलोगोंको जिमा दिया !' उनकी ऐसी हालत हो गई कि उनका अगर बस चलता तो वे भोजन-शुदा अपने पाकयंत्रको वहाँका वहीं निकालकर फेंक आते।

मामा बाँसों उछलने लगे; और ब्याहकी शर्त तोड़ने और मानहानिका मामला करनेके लिए बेहद फड़फड़ाने लगे। किन्तु हितैषियोंने उन्हें समझा दिया कि 'इससे अधूरा नाटक पूरा हो जायगा, और कुछ नहीं।'

कहनेकी जरूरत नहीं कि मैं भी मारे क्रोध और क्षोभके भीतर ही भीतर जल-भुनकर खाक हो रहा था। और मूछोंकी रेखपर ताव देता हुआ यही सोच रहा था कि 'काश, किसी भी तरह तंग आकर शम्भूनाथ हमारे चरणोंपर आ पड़ें !'

किन्तु मेरे क्रोधके इस काले स्रोतके पास एक-और स्रोत बह रहा था, जिसका रंग कतई काला नहीं। मेरा सम्पूर्ण मन, जो उस अपरिचिताकी तरफ आँख मींचकर दौड़ा चला गया था, उसे जो अभी तक किसी भी तरह खींचकर वापस नहीं ला सका। हाय हाय, सिर्फ एक दीवारकी आड़ रह गई थी। ललाट और कपोलों पर जिसके चन्दन अंकित था, देहपर जिसके लाल साड़ी थी, मुंहपर जिसके रक्तिम आभा थी, हृदयके भीतर उसके क्या था कैसे बताऊँ ? हाय हाय, मेरी वह कल्पलोककी कल्पलता अपने बसन्तके सारे फूलोंका भार मुझे ही अर्पित करनेके लिए झुकी हुई थी। हवा आई, सुगन्ध आई, पत्तोंकी आहट तक सुनाई दी; सिर्फ एक कदम, एक ही कदम बढ़ानेकी देर थी; इतनेमें, उस एक कदमकी दूरी एक क्षणमें इतनी असीम हो उठी !

इतने दिनोंसे मैं जो रोज शामको विनय भाई-साहबके घर जाकर उन्हें परेशान किया करता था, वह सब व्यर्थ हो गया ! विनय भाई-साहबके वर्णनकी भाषा बहुत ही तंग थी, और इसी लिए उनके प्रत्येक शब्दने चिनगाड़ी बनकर मेरे मनमें आग जला रखी थी। मैंने समझा था, आश्चर्यजनक उसका रूप है, किन्तु न तो उसे आँखोंसे देख सका, और न तसवीर ही देखनेका सौभाग्य मिला। सब-कुछ अस्पष्ट ही रह गया। बाहरसे तो वह पकड़ाई दी ही नहीं, मनमें भी उसे रूप न दे सका। अब, अब मेरा मन उस दिनके उस विवाह-मंडपकी दीवारके बाहर भूतकी तरह लम्बी साँसें ले-लेकर चक्कर काट रहा है।

हरिशसे मैंने सुना कि उस लड़कीको मेरा फोटोग्राफ दिखाया गया था। जरूर उसने मुझे पसंद किया होगा। न-करनेकी कोई वजह नहीं। मेरा मन कहता है कि मेरी तसवीर उसके किसी एक बकसमें रखी होगी। किसी-किसी दिन सुनसान दोपहरको, अपने कमरेका दरवाजा बन्द करके क्या वह उसे निकालकर नहीं देखती होगी ? जब वह झुककर देखती है तब क्या उसके खुले हुए बाल उड़-उड़कर मेरी तसवीरपर नहीं आ पड़ते ? और सहसा बाहर किसीके पैरोंकी आहट सुनकर क्या वह झटपट उस चित्रको अपने सुगन्धित आँचलमें नहीं छिपा लेती ?

दिन बीतते गये, एक साल हो गया। मामा तो मारे शरमके सगाई-सम्बन्धकी बात ही नहीं छेड़ते। माकी इच्छा थी कि मेरे अपमानकी बात समाज जब बिलकुल भूल जाय तब ब्याहकी कोशिश की जाय।

इधर मैंने सुना था कि उस लड़कीके लिए एक अच्छा पात्र मिला था, पर उसने प्रण कर लिया है कि वह ब्याह नहीं करेगी। सुनकर मेरा मन पुलकके आवेशसे भर गया। मैंने अपनी कल्पनामें देखा कि वह अच्छी तरह खाती-पीती नहीं; सुबहसे शाम यों ही बीत जाती है, उसे बाल सम्हालनेकी भी याद नहीं रहती। उसके पिता उसके चेहरेकी तरफ देखते हैं और सोचा करते हैं कि लड़कीकी दिनपर दिन यह क्या दशा होती जा रही है! सहसा किसी दिन उसके कमरेमें जाकर देखते हैं कि लड़कीकी आंखोंमें आँसू भर आये हैं। पूछते हैं, 'बेटी, तुझे हो क्या गया, बता तो सही?' लड़की जल्दीसे आँखें पोंछकर कहती, 'कुछ भी तो नहीं हुआ बापूजी!' अपने बापकी वह इकलौती लड़की है, बड़ी लाड़की। आखिर एक दिन जब, सूखा पड़नेके दिनोंमें फूलकी कली जैसी मुरझा जाती है उस तरह, लड़कीको मुरझाई देखा, तो पिताका हृदय व्याकुल हो उठा। तब उनका सारा अभिमान जाता रहा; और वे मेरे पास दौड़े आये। फिर? फिर, मेरे मनमें वह जो काले रंगकी धारा बह रही थी, वह मानो काली नागिनका रूप धारण करके फन उठाकर फुसकार उठी। और बोली, अच्छी बात है, फिर एक बार ब्याहका मण्डप सजाया जाय, रोशनी की जाय, देश-परदेशसे नाते-रिश्तेदारोंको बुलाया जाय, बारात चढ़ जाय; फिर तुम भी मौरको पैरोंसे कुचलकर बारातियोंके साथ मण्डपसे उठ कर चले आना!' किन्तु जो धारा आँसुओंके समान निर्मल थी वह राजहंसका रूप धारण करके बोल उठी, 'जिस तरह मैं एक दिन दमयन्तीके पुष्पवनमें गई थी, उसी

तरह एक बार मुझे उड़ जाने दो ; मैं विरहिनीके कानोंमें एक बार शुभ-संवाद सुना आऊं।' फिर ? फिर, दुःखकी रात बीत जाती है, नव वर्षाका पानी पड़ता है, और मुरझाया हुआ फूल अपना मुखड़ा उठाता है। अबकी बार, उस दीवारके बाहर रहते हैं सारी दुनियाके और-सब ; और भीतर प्रवेश करता है सिर्फ एक आदमी। फिर ? फिर, 'खतम कहानी, लल्लाकी नानी'।

लेकिन, कहानी ऐसे खतम नहीं हुई, जहाँ आकर वह असमाप्त रह गई, वहाँ तकका थोड़ा-सा वर्णन करके मैं ही किस्सा खतम किये देता हूं।

मा बहुत दिनोंसे तीर्थयात्राको जाना चाहती थीं। मुझे ही उनके साथ जाना पड़ा। कारण, मामा इस बार भी हवड़ा-पुल पार करनेको राजी नहीं हुए।

रातका वक्त था। गाड़ी अपनी पूरी रफ्तारसे चल रही थी; और हम-सब सो रहे थे। पटरी और पहियोंकी आवाज और धक्कोंके साथ-साथ मेरे सोते-हुए मगजमें भी तरह-तरहके सपनोंका झुनझुना बज रहा था। अचानक किसी स्टेशनपर गाड़ी ठहरते ही मेरी आँख खुल गई। अंधेरे-उजालेमें जो-कुछ देखा, वह भी एक स्वप्न ही था; सिर्फ आकाशके तारे चिर-परिचित थे, बाकी सब अपरिचित और अस्पष्ट। स्टेशनकी बत्तियाँ खड़ी-खड़ी मानो यही दिखा रही थीं कि यह दुनिया कितनी अपरिचित है, और चारों तरफ जो-कुछ दिखाई दे रहा है वह कितनी दूर है! मा सो रही थीं। बत्तीके नीचेका हरा पर्दा खिंचा हुआ था, और बकस ट्रंक वगैरह सारा सामान, बिखरे-हुए सपनोंकी तरह ही, कहीं

तल-ऊपर और कहीं इधर-उधर बिखरा पड़ा था। प्रदोष-जैसे हरे रंगके धुँधले प्रकाशमें कैसा तो लगता था !

इतनेमें, उस विचित्र दुनियाकी विचित्र रातमें कोई बोल उठी—"जल्दी आओ, यहाँ जगह है।"

कानोंमें मानो किसीने संगीत-सुधा उँड़ेल दी। आज मेरी समझमें आया कि इसी तरह असमय और अस्थानमें अचानक सुननेसे ही नारी-कंठकी मिठासका पूरा परिचय मिल सकता है। किन्तु, इसे सिर्फ नारी-कंठ कहकर किसी एक श्रेणीमें दर्ज नहीं किया जा सकता ; यह तो एक ऐसी हस्तीकी आवाज है जिसे सुनते ही मन बोल उठता है, 'ऐसा तो पहले कभी नहीं सुना !'

हमेशासे, गलेकी आवाज मेरे लिए बहुत ज्यादा सत्य है। रूप भी कोई मामूली चीज नहीं, फिर भी, आदमीमें जो-कुछ अन्तरतम और अनिर्वचनीय है, मैं समझता हूं, कंठस्वर ही उसका चेहरा है। मैं जल्दीसे उठा; और खिड़की खोलकर बाहर झाँकने लगा। पर कुछ दिखाई नहीं दिया। प्लाटफार्मपर अंधेरेमें खड़े हुए गार्डने अपनी एकाक्षी हरी बत्ती हिला दी, गाड़ी चलने लगी ; और मैं खिड़कीके पास बैठा रहा। मेरी आँखोंके सामने कोई मूर्ति नहीं थी, किन्तु अपने हृदयमें मैं और-एक हृदयका रूप देखने लगा। मानो वह ताराओंसे भरी रातका रूप हो ; औरोंको चारों तरफसे पकड़े रहता है, पर खुद किसीको पकड़ाई नहीं देता।

अरे ओ मेरे स्वर, मेरे अपरिचित कंठके मधुर स्वर, तुम नहीं जानते कि क्षण-भरमें तुम मेरे चिर-परिचयके आसनपर आ बैठे हो। कैसे आश्चर्यमय परिपूर्ण हो तुम ! चंचल कालके क्षुब्ध

हृदयपर फूल जैसे खिल उठे हो तुम, किन्तु उसकी लहरोंकी चोटसे एक भी पँखड़ी तुम्हारी नहीं हिली, उसकी अपरिमेय कोमलतापर जरा भी दाग नहीं पड़ा।

गाड़ी लोहेके मृदंगपर ताल देती हुई चलने लगी ; और मैं मन-ही-मन संगीत सुनता रहा। उसकी सिर्फ एक ही धुन थी, एक ही टेक थी—"यहाँ जगह है।" है क्या, जगह है क्या ? जगह जो मिलती नहीं, कोई किसीको पहचानता जो नहीं ! फिर भी, यह नहीं पहचानना तो महज एक कुहरा है, कुहरा ! कुहरा तो माया है, उसके दूर होते ही पहचानका फिर कोई अन्त नहीं। अरे ओ मेरे सुधामय स्वर, जिस हृदयका अद्भुत अपरूप रूप हो तुम, वह क्या मेरा चिरकालका परिचित नहीं ? जगह है, है जगह ? – जल्दी आनेके लिए कह रहे हो ? जल्दी ही आया हूं, एक क्षण भी देर नहीं की।

रातको अच्छी तरह नींद नहीं आई। प्रत्येक स्टेशनपर मैं खिड़कीमेंसे झाँककर देखता रहा, डर लगने लगा कि जिसे मैं देख न सका वह कहीं रात ही को उतर न जाय।

दूसरे दिन सवेरे एक बड़े स्टेशनपर गाड़ी बदलना था। हमारे पास पहले दरजेके टिकट थे ; उम्मीद थी कि भीड़ नहीं होगी। उतर कर देखा कि प्लाटफार्मपर बहुत-से अरदली मनों असबाब लिये-हुए गाड़ीकी बाट देख रहे हैं ! फौजके कोई बड़े जनरल साहब सफरपर निकले हैं। दो-तीन मिनट बाद गाड़ी आ पहुंची। समझ गया कि पहले दरजेकी उम्मीद कतई छोड़ देनी होगी। माको लेकर किस डब्बेमें चढ़ँ ? बड़ी उलझनमें पड़ गया, सभी डब्बोंमें भीड़ है।

इधरसे उधर मारा-मारा फिरने लगा। इतनेमें, दूसरे दरजेमें से एक लड़की मेरी माको लक्ष्य करके बोल उठी—"आपलोग इस डब्बेमें आजाइये, यहाँ जगह है।"

मैं तो चौंक पड़ा। वही अद्भुत मधुर कंठ, वही धुन, वही टेक—"यहाँ जगह है।" मैं क्षण-मात्र देर न करके माके साथ तुरत डब्बेमें घुस पड़ा। सामान कुलियोंके सिरपर लदा था; चढ़ानेका वक्त ही न मिला। गाड़ी छूट गई। मुझ जैसा अकर्मण्य दुनियामें शायद ही कोई ढूँढ़े मिलेगा। उस लड़कीने चलती गाड़ीमें कुलियोंके माथेसे सामान ले-लेकर भीतर रखवाया। मेरा एक कैमेरा स्टेशनपर ही पड़ा रह गया, मैंने कुछ परवाह ही नहीं की।

फिर? फिर क्या लिखूँ, कुछ समझमें नहीं आता। मेरे मनके अन्दर एक अखण्ड आनन्दकी तसवीर है, उसे कहाँसे शुरू करूं और कहाँ खतम करूं? बैठे-बैठे एकके बाद एक वाक्य लिख लिखकर कहानी बनानेकी तबीयत ही नहीं होती।

अब, उस स्वरको आँखोंसे देखा। अब भी वह मुझे स्वर ही मालूम हुई। माके मुँहकी तरफ देखा, देखा कि उनके पलक नहीं पड़ रहे हैं, वे एकटक उस लड़कीकी ओर देख रही हैं। लड़की की उमर सोलह या सत्रह सालकी होगी; पर नवयौवनने उसके शरीर और मनपर कहीं भी जरा बोझ नहीं डाला। उसकी गति सहज और स्वाभाविक, दीप्ति निर्मल और सौन्दर्यकी सुचिता अपूर्व है; उसमें कहीं भी किसी तरहकी जड़ता नहीं।

मैं उसे देख रहा था। विस्तारके साथ उसके विषयमें कुछ

कहना मेरे लिए असम्भव है। और तो क्या, वह किस रंगकी साड़ी किस तरह पहने हुए थी, इतना भी मैं ठीक तौरसे नहीं बता सकता। पर यह सच है कि उसके पहनावेमें ऐसा कुछ भी न था जो उसे छोड़कर खास तौरसे नजरमें आता। वह अपने चारों तरफके सब-कुछसे ज्यादा थी, रजनीगंधाकी शुभ्र मंजरी-सी सीधे-सरल बृन्तपर खड़ी थी। जिस वृक्षपर खिली है उस वृक्षको वह बिलकुल ही अतिक्रम कर गई है। साथमें दो-तीन और-भी छोटी-छोटी लड़कियाँ थीं, उनके साथ वह खूब बतरा रही थी, हँस रही थी, हँसते-हँसते खिली जा रही थी। मैंने हाथमें एक किताब ले ली; और उसकी तरफ कान लगाये बैठा रहा। जो-कुछ कानोंमें आ रहा था वह थीं तो बच्चोंके साथ बचपनकी ही बातें; पर उसमें एक विशेषता थी, छोटी-बड़ी उमरका जरा भी फरक नहीं था उसमें। छोटोंके साथ वह मारे आनन्दके अनायास ही छोटी हो गई थी। साथमें तसवीरों-वाली बच्चोंकी कहानियोंकी किताबें थीं, उनमेंसे एक कहानी पढ़-सुनानेके लिए लड़कियाँ जिद करने लगीं। उस कहानीको वे बीसों बार सुन चुकी होंगी, फिर भी उनका ऐसा आग्रह क्यों, अब मेरी समझमें आया। असलमें, उसके सुधा-कंठके स्पर्शमात्रसे कहानी हर बार नया जीवन पा जाती है। उसका सम्पूर्ण शरीर और मन प्राणोंसे लबालब भरा हुआ है, उसके चलनेमें बोलनेमें छूनेमें सब-कुछमें प्राण छलक उठते हैं। इसीसे, लड़कियाँ जब उसके मुंहसे कहानी सुनती हैं, तो उनके हृदयोंपर प्राणोंका झरना झरने लगता है। उसके उस उद्भासित प्राणने उस दिनकी मेरी सम्पूर्ण सूर्य-किरणोंको सजीव

कर दिया, मुझे ऐसा लगने लगा कि मुझे जिस प्रकृतिने अपने आकाशसे घेर रखा है वह इस तरुणीके ही अक्लान्त अम्लान प्राणांका विश्वव्यापी विस्तार है।

अगले स्टेशनपर गाड़ी ठहरते ही उसने खोनचेवालेको बुलाकर उससे खूब दालमोंठ वगैरह खरीद ली; और उन लड़कियोंके साथ मिलकर बिलकुल निःसंकोच भावसे बच्चोंकी तरह हँसती और शोरगुल मचाती हुई खाने लगी। हाय-हाय, मेरी प्रकृति न-जाने कैसे जालमें फँसी हुई थी! मैं क्यों नहीं उसकी तरह आसानीसे हँसता हुआ उससे एक मुट्ठी दालमोंठ माँगकर खा सका? अपना हाथ बढ़ाकर क्यों नहीं मैंने अपना लालच मंजूर कर लिया उसके आगे?

मा अच्छा लगने और न लगनेके बीच दुबिधामें पड़ी हुई थीं। कमरेमें मैं एक पुरुष बैठा हुआ हूं, फिर भी उसे कुछ भी संकोच नहीं! खासकर ऐसी लालचीकी तरह खा रही है कि कुछ कहनेकी बात नहीं। उसका यह ढंग माको पसन्द नहीं आ रहा था, किन्तु साथ ही वे इसे बेहयापन भी नहीं कह सकतीं। उन्हें ऐसा लगा कि इस लड़कीकी उमर तो पूरी हो चुकी है, पर शिक्षा नहीं मिली। मासे सहसा किसीसे बात करते नहीं बनता, आदमियोंसे कुछ दूर-दूर रहना ही उनका स्वभाव है। इस लड़कीका परिचय जाननेके लिए भीतरसे उनकी इच्छा काफी जोर मारने लगी, किन्तु स्वाभाविक बाधाको लाँधनेमें उनका मन दुबिधामें पड़ा रहा।

इतनेमें, गाड़ी एक बड़े स्टेशनपर ठहरी। जनरल-साहबके

अनुसंगियोंका वह झुंड इस स्टेशनपर किसी सुविधाजनक डब्बेमें सवार होनेकी कोशिश करने लगा। गाड़ीमें कहीं भी जगह नहीं थी। बार-बार वे हमारे डब्बेके सामने आ-आकर झाँकने लगे। मा तो मारे आतंकके सिकुड़-सी गईं ; और मैं भी भीतर ही भीतर शङ्कित होने लगा।

गाड़ी छूटनेके कुछ ही क्षण पहले एक देशी रेल्वे-कर्मचारीने, नाम-लिखे दो टिकिट दो बेञ्चोंके सिरहानेकी तरफ लगाते हुए मुझसे कहा—"इस डब्बेकी दो सीटें पहलेसे ही दो साहबोंने रिजर्व करा रखी हैं, आपलोगोंको दूसरे डब्बेमें जाना पड़ेगा।"

मैं तो उसी वक्त अत्यन्त चञ्चल होकर जल्दीसे उठ खड़ा हुआ। उस लड़कीने कहा—"नहीं, हम नहीं उतरेंगी।"

उस आदमीने जरा-कुछ कड़ाईके साथ कहा—"उतरना तो पड़ेगा ही, और कोई चारा ही नहीं।"

किन्तु, लड़कीमें हिलने-डुलनेका कोई लक्षण न देखकर वह उतर गया ; और अंग्रेज स्टेशन-मास्टरको बुला लाया। उसने आकर मुझसे कहा—"मैं दुःखित हूं, लेकिन—"

सुनकर मैंने 'कुली' 'कुली' पुकारना शुरू कर दिया। लड़की तुरत उठ खड़ी हुई, और आंखोंसे चिनगारियाँ-सी बरसाती हुई बोली—"नहीं, आप हरगिज नहीं उतर सकते। जैसे बैठे हैं बैठे रहिये।"— और दरवाजेके पास जाकर स्टेशन-मास्टरसे अंग्रेजीमें बोली—"यह बात बिलकुल झूठ है कि यह डब्बा पहलेसे ही रिजर्व है।" और बड़ी तेजीसे उसने रिजर्वके टिकट निकालकर प्लाटफार्मपर फेंक दिये।

इस बीचमें युनिफर्म पहने-हुए साहब भी अपने आदमियोंके साथ दरवाजेके सामने आ खड़ा हुआ था ; और उनसे असबाब चढ़ानेके लिए इशारा कर रहा था। किन्तु बादमें इस लड़कीके मुंहकी तरफ देखकर, उसकी बात सुनकर, हाव-भाव देखकर उसने स्टेशन-मास्टरकी बाँह छुई, और उसे एक तरफ ले जाकर क्या बात की पता नहीं। आखिर हुआ यह कि गाड़ी देर तक खड़ी रही ; और एक नया डब्बा जोड़कर तब गाड़ी रवाना हुई। और उस लड़कीने अपने दल-बलके साथ फिर एक बार सरगरमीके साथ दालमोंठ खाना शुरू कर दिया ; और मैं मारे शरमके खिड़कीके बाहर मुंह निकालकर प्रकृतिकी शोभा देखने लगा।

गाड़ी कानपुर आकर खड़ी हुई। लड़की अपना सामान बाँध कर तैयार खड़ी थी। तुरत ही एक नौकर दौड़ा आया ; और गाड़ीका दरवाजा खोलकर वह उन लोगोंको उतारनेका इन्तजाम करने लगा। अब तो मासे नहीं रहा गया, वे पूछ बैठीं—"तुम्हारा नाम क्या है बेटी ?" लड़कीने जवाब दिया—"कल्याणी।"

नाम सुनकर मा और मैं दोनोंके दोनों चौंक पड़े।

"तुम्हारे पिता—"

"वे यहाँके डाक्टर हैं ; शम्भूनाथ सेन।"

इसके बाद वह उतरकर चली गई।

उपसंहार

मामाकी मनाही और माकी आज्ञा उल्लङ्घन करके मैं घर छोड़कर कानपुर चला आय   पिता और कल्याणी

से भी मैं मिल चुका हूं। मैंने हाथ जोड़े हैं, सिर झुकाया है। शम्भूनाथका हृदय पसीजा है; किन्तु कल्याणी टससे मस नहीं हुई। उसका एक ही जवाब था—"मैं व्याह नहीं करूँगी।"

मैंने पूछा—"क्यों ?"

उसने कहा—"माताकी आज्ञा है।"

हे भगवान, यहाँ भी मामा हैं क्या !

बादमें समझा, मातृभूमि है वह।

विवाह भङ्ग हो जानेके बादसे कल्याणीने लड़कियोंको शिक्षा देनेका व्रत ले लिया है।

किन्तु, मैं आशा नहीं छोड़ सका। उस दिनका वह संगीत, वह स्वर आज भी जो मेरे हृदयमें उसी तरह गूँज रहा है! मानो वह किसी उस पारकी बाँसुरी हो, मेरे इस संसारके बाहरसे मीठी तान छेड़-छेड़कर मुझे बुला रही हो। और, उस दिन जो निशीथ रातके अँधेरेमें मेरे कानमें आह्वान-स्वर आया था, 'जगह है', वह जो मेरे चिरजीवनके गीतकी 'टेक' बन गया था! तब मेरी उमर थी तेईस सालकी, और अब है सत्ताईसकी। अब भी मैंने आशा नहीं छोड़ी, किन्तु मामाको छोड़ दिया है। निहायत इकलौता बेटा होनेसे मा मुझे नहीं छोड़ सकी हैं।

तुमलोग समझते होगे कि मैं व्याहकी आशा रखता हूं! नहीं, व्याहकी आशा मैं कतई नहीं रखता। मेरे मनमें है सिर्फ उस रातके अपरिचित कंठके मधुर स्वरकी आशा, 'जगह है'। जरूर है। नहीं तो मैं खड़ा कहाँ रहूंगा ? इसीसे तो, वर्षके बाद वर्ष बीतते

चले जा रहे हैं और मैं यहींपर हूं। उससे मुलाकात होती है, उस कंठका संगीत भी सुननेको मिलता है; और मन कहता है, 'मिल तो गई जगह।' ओ मेरी अपरिचिता, तुम्हारा परिचय पूरा नहीं हुआ, पूरा होगा भी नहीं; किन्तु भाग्य मेरा अच्छा है, जगह तो मिल ही गई।

अध्यापक

१

कॉलिजमें, अपने सहपाठियोंमें मेरी कुछ खास इज्जत थी। सभीकी ऐसी धारणा थी कि मैं हर विषयमें काफी समझदारी रखता हूं। इसकी खास वजह यह थी कि सभी विषयोंमें मेरी अपनी एक राय होती थी, फिर चाहे वह सही हो या गलत। अधिकांश लोग 'हाँ' या 'ना' जोरके साथ नहीं कह सकते; और मैं खूब अच्छी तरह कह सकता था। और, सिर्फ मैं अपनी राय ही रखता होऊं सो बात नहीं, खुद लिखता भी था, व्याख्यान देता था, समालोचना करता था, कविता लिखता था, और इस तरह सब तरफसे मैं अपने सहपाठियोंके लिए ईर्षा और श्रद्धाका पात्र बन गया था।

कॉलिजमें मैं इसी तरह आखिर तक अपनी महिमा कायम रख आ सकता था। किन्तु, इस बीचमें मेरे ख्याति-स्थानमें शनि, एक नये अध्यापककी मूर्ति धारण करके, कॉलिजमें आ धमका।

हमारे उस जमानेके ये नये अध्यापक आज एक सुप्रसिद्ध व्यक्ति हैं, लिहाजा मेरी इस जीवन-कहानीमें उनका नाम छिपा भी लिया जाय तो इससे उनके उज्ज्वल नामको जरा भी नुकसान नहीं होगा। अपने प्रति उनके आचरणका खयाल करके मैं मौजूदा इतिहासमें उन्हें वामाचरण बाबू कहूंगा।

उनकी उमर मुझसे बहुत ज्यादा हो सो बात नहीं ; थोड़े ही दिन हुए वे एम० ए० परीक्षामें प्रथम स्थान पाकर टॉनी साहबके प्रशंसापत्रके साथ बाहर निकले थे ; और खासकर ब्राह्मसमाजी होनेसे वे और-सबोंसे बहुत दूर और अलग-से मालूम होते थे, और इसीलिए वे हमारे समकालीन समवयस्क नहीं मालूम होते थे। हमारा नव्य-हिन्दू-सम्प्रदाय आपसमें उन्हें 'ब्रह्मदैत्य' कहा करता था।

हमारी एक तर्क-सभा थी। मैं उस सभाका विक्रमादित्य था, और नवरत्न भी मैं ही था। हमारी सभाके कुल छत्तीस सभासद थे। उनमेंसे पैंतीसको अगर न भी गिना जाय तो कोई हर्ज नहीं ; और बाकी-बचे एककी योग्यताके विषयमें मेरी जैसी धारणा थी, बाकी पैंतीस जनोंकी भी वैसी ही धारणा थी।

इस सभाके वार्षिक अधिवेशनके लिए मैंने कार्लाइलकी समालोचनामें एक ओजस्वी भाषण लिखा था। मेरे मनमें दृढ़ विश्वास था कि मेरी उस रचनाके असाधारणत्वपर हरएक श्रोता दाँतों-तले उंगली दबा लेगा ; दरअसल उसमें ऐसी ही खूबी थी। कारण, मैंने उसमें शुरूसे आखिर तक कार्लाइलकी खूब कसके निन्दा की थी।

उस अधिवेशनके सभापति थे वामाचरण बाबू। भाषण समाप्त होनेपर मेरे सहपाठी भक्तगण मेरे मतकी असम-साहसिकता और अंग्रेजी-भाषाकी विशुद्ध तेजस्वितापर मुग्ध और निरुत्तर होकर बैठे रहे। और-किसीको कुछ नहीं कहना है जानकर वामाचरण उठे, और शान्त-गम्भीर स्वरमें उन्होंने सबको समझा दिया कि मेरे लेखमें अमेरिकाके सुलेखक सुप्रसिद्ध लावेल साहबके निबन्धसे जितना अंश चुराया गया है उतना अंश बहुत ही अच्छा है; और जितना अंश मेरा खुदका लिखा हुआ है उतना अगर निकाल दिया जाता तो अच्छा होता।

अगर वे यह कह देते कि 'लावेलके साथ नवीन निबन्ध-लेखकके मतका, बल्कि यों कहना चाहिए कि भाषाका भी, हूबहू और आश्चर्यजनक मेल पाया जाता है', तो उनकी बात सच भी होती और अप्रिय भी नहीं होती।

इस घटनाके बाद, मेरे सहपाठियोंमें मेरे प्रति जो एक अखंड विश्वास था, उसपर एक विदारण-रेखा पड़ गई। सिर्फ मेरे चिरानुरक्त भक्ताग्रगण्य अमूल्यचरणके हृदयमें लेशमात्र विकार पैदा नहीं हुआ। वह मुझसे बार-बार कहने लगा, "तुम एक बार अपना 'विद्यापति' नाटक ब्रह्मदैत्यको सुना दो, देखूं उसके विषयमें वह निन्दक क्या कहता है!"

राजा शिवसिंहकी रानी लछिमादेवीको कवि विद्यापति बहुत चाहते थे; और उन्हें बगैर देखे वे कविता नहीं लिख सकते थे। इसी विषयको लेकर मैंने एक परम शोकावह उच्चश्रेणीका पद्यमय नाटक लिखा था। मेरे श्रोताओंमें जो पुरातत्त्वको मर्यादा नहीं

लाँघ सकते थे उनका कहना था कि 'इतिहासमें ऐसी घटना नहीं हुई।' मैं जवाब देता, 'इतिहासका यह दुर्भाग्य है। ऐसी घटना घटती तो इतिहास बहुत ज्यादा सरस और सत्य होता।'

नाटक मेरा उच्चश्रेणीका था, यह मैं पहले ही कह चुका हूं। अमूल्य कहता था कि वह सर्वोच्चश्रेणीका है। मैं अपनेको जितना समझता था, वह मुझे उससे कहीं ज्यादा समझता था। इसलिए मेरा कितना बड़ा विराट रूप उसके चित्तमें प्रतिफलित था, उसकी मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था।

नाटक वामाचरण बाबूको सुना देनेकी सलाह मुझे बुरी नहीं मालूम हुई। कारण, मेरा सुदृढ़ विश्वास था कि उस नाटकमें निन्दाके योग्य कहीं भी जरा छिद्र नहीं है। लिहाजा, हमारी तर्क-सभाका शीघ्र ही एक विशेष अधिवेशन हुआ; और उसमें छात्रोंके समक्ष मैंने अपना नाटक पढ़ सुनाया। अन्तमें वामाचरण बाबू उठे; और उन्होंने उसकी आलोचना की।

उस समालोचनाका विस्तृत विवरण मैं नहीं लिखना चाहता। संक्षेपमें इतना ही कह देना काफी है कि समालोचना मेरे अनुकूल नहीं हुई। वामाचरण बाबूके मतसे 'नाटकके पात्रोंके चरित्र और मनोभाव कोई खास विशेषता नहीं रखते। बड़े-बड़े वाक्योंमें मामूली मनोभावोंका दिखावा है; और वह भी भापकी तरह क्षणस्थायी और अनिश्चित। लेखकके हृदयमें आकार और जीवन पाकर उनका सृजन या विकास नहीं हो पाया।'

बिच्छूकी पूंछमें डंक रहता है; वामाचरण बाबूकी समालोचनाके उपसंहारमें ही तीव्रतम विष संचित था। आसन ग्रहण

करनेके पहले उन्होंने कहा, "लेखकके इस नाटकके बहुत-से दृश्य और मूलभाव गेटेके 'टासो' नाटकका अनुकरण है ; और कहीं कहीं तो हूबहू अनुवाद करके रख दिया गया है।"

इस बातका अच्छा जवाब भी था। मैं कह सकता था कि 'होने दो अनुकरण, यह कोई निन्दाकी बात नहीं ! साहित्य-राज्यमें चोरी-विद्या बड़ी विद्या है, यहाँ तक कि पकड़े जानेपर भी। साहित्यके बड़े-बड़े महाजन ऐसा करते आये हैं। और तो क्या, सेक्सपियर भी इससे नहीं बचे। असलमें, साहित्यमें जिसकी मौलिकता अत्यधिक होती है वही चोरी करनेका साहस कर सकता है ; कारण, वह पराई चीजको सम्पूर्णत: अपनी बना सकता है।' ऐसी और-भी बहुत-सी अच्छी-अच्छी बातें थीं, जो कही जा सकती थीं, पर उस दिन नहीं कही जा सकीं। विनय इसका कारण नहीं। असलमें बात यह है कि उस दिन इनमेंसे एक भी बात सूझी ही नहीं। उसके करीब छै-सात दिन बाद ये जवाब दैवागत ब्रह्मास्त्रकी तरह एक-एक करके मेरे मनमें उदित होने लगे ; लेकिन शत्रुपक्ष सामने न होनेसे ये अस्त्र मुझे ही बेध-बेधकर मारने लगे। मैं सोचने लगा, कमसे कम ये बातें मुझे अपने क्लासके विद्यार्थियोंको जरूर सुना देनी चाहिए। लेकिन उसमें भी दिक्कत यह थी कि मेरे ये उत्तर उन गधोंकी बुद्धिके लिए जरा-कुछ ज्यादा सूक्ष्म थे। उनके दिमागका दायरा इतना तंग था कि वे समझते थे, चोरी तो आखिर चोरी ही है ; मेरी चोरी और दूसरोंकी चोरीमें कितना फरक है, इतना समझनेकी समर्थ्य अगर उनमें होती, तो मुझमें और उनमें कोई खास फरक ही न होता।

मैंने बी० ए० की परीक्षा दी। परीक्षामें उत्तीर्ण तो हो ही जाऊँगा, मुझे कोई सन्देह न था ; किन्तु मनमें किसी तरहका आनन्द नहीं रहा।

वामाचरणके उस दिनके उन थोड़े-से शब्दोंकी चोट खाकर मेरी सम्पूर्ण ख्याति और आशाका अभ्रभेदी मन्दिर टूटकर भग्न स्तूपमें परिणत हो गया। सिर्फ, मेरे प्रति अबोध अमूल्यकी जो श्रद्धा थी वह किसी भी तरह नहीं घटी। प्रभातमें यश-सूर्य जब मेरे सामने उदित था तब भी वह श्रद्धा लम्बी छायाकी तरह मेरे पैरोंसे लगी हुई थी, और शामको जब मेरा यश-सूर्य अस्तोन्मुख हुआ तब भी वह अपना लम्बा आयतन लिये-हुए मेरे पाँवोंको न छोड़ सकी। पर उस श्रद्धामें किसी तरहकी परितृप्ति नहीं थी, वह शून्य छायामात्र थी, मूढ़ भक्तके हृदयका मोहान्धकार था वह। उसमें बुद्धिकी उज्ज्वल किरण नहीं थी।

२

पिताजीने ब्याहके लिए मुझे देश बुलाया। मैंने उनसे और कुछ दिनका समय माँग लिया।

वामाचरणकी समालोचनासे मेरे अपने अन्दर एक आत्म-विरोध, अपने प्रति एक विद्रोहका भाव पैदा हो गया था। मेरा समालोचक मन मेरे लेखक मनको छिपे-छिपे चोट कर रहा था। मेरा लेखक मन कह रहा था, 'मैं इसका बदला लूँगा, फिर एक बार लिखूँगा और तब देखूँगा कि मैं बड़ा हूं या मेरा समालोचक ?'

मन-ही-मन मैंने तय कर लिया कि 'विश्वप्रेम, दूसरेके लिए आत्म-विसर्जन और शत्रुको क्षमा' इस भावको लेकर, चाहे गद्यमें

हो या पद्यमें, जबरदस्त 'सब्लाइम' जैसी कोई बहुत ही ऊँची चीज लिखूँगा ; और इस तरह देशके समालोचकोंके आगे लम्बी समालोचनाके लिए जबरदस्त खूराक रख दूंगा। इसके लिए तय किया कि किसी सुन्दर एकान्त स्थानमें जाकर रहूंगा ; और वहीं अपने जीवनकी इस सबसे बड़ी कीर्तिका सृजन करूँगा। मैंने प्रतिज्ञा कर ली कि कमसे कम महीने-भर बन्धु-बान्धव और परिचित-अपरिचित किसीसे भी न मिलूँगा।

अमूल्यको बुलाकर मैंने उसे अपना प्लैन बता दिया। सुनते ही वह स्तम्भित-सा रह गया। मानो उसी क्षण उसे मेरे ललाट पर अपने देशकी भावी महिमाकी प्रथम अरुण-ज्योति दीख गई। अत्यन्त गम्भीर मुँह बनाकर उसने मेरा हाथ मसककर आँखें फाड़-फाड़कर मेरे चेहरेकी ओर देखते हुए मृदुस्वरमें कहा, "जाओ भाई, अमर कीर्तिका अक्षय गौरव अर्जन कर आओ।"

मेरा शरीर रोमांचित हो उठा। मुझे ऐसा लगा जैसे आसन्न गौरव-गर्वित भक्ति-विह्वल भारतके प्रतिनिधिके रूपमें अमूल्यने मुझसे ये शब्द कहे हों।

अमूल्यने भी कम त्याग नहीं किया इसके लिए। उसने अपने देशके लिए सुदीर्घ एक मास तक मेरे संगकी आशा सम्पूर्ण रूपसे छोड़ दी। एक गहरी साँस लेकर मेरा मित्र ट्रामपर सवार होकर अपने कर्नवालिस स्ट्रीटके 'मेस'की तरफ रवाना हो गया ; और मैं चन्दननगरके गंगा-किनारेके बगीचेमें अपनी अमर कीर्तिका अक्षय गौरव अर्जन करने चल दिया।

गंगाके किनारे बिलकुल सुनसान घरमें अकेले चित लेटे हुए

विश्वजनीन प्रेमकी बात सोचते-सोचते दोपहरको मुझे गहरी नींद आ जाती ; और शामके करीब पाँच बजे आँख खुलती। उसके बाद शरीर-मन अत्यन्त अवसादग्रस्त हो जाता। किसी तरह चित्त-विनोदन और समय काटनेके लिए मैं बगीचेके पीछेकी तरफ सड़कके किनारे एक कुरसीपर जा बैठता ; और चुपचाप बैठा हुआ गाड़ियों और आदमियोंका चलना-फिरना देखता रहता। जब बहुत ही ज्यादा असह्य हो उठता तो स्टेशन चला जाता। वहाँ टेलिग्राफकी कटकट आवाज होती, घंटी बजती, मुसाफिर आते-जाते, हजार पहियोंवाली साँप-सी रेल गाड़ी धुआँ उगलती फुसकारती और चीखती हुई इधरसे उधर जाती-आती रहती, मुसाफिरोंकी दौड़-धूप और शोरगुल होता रहता। कुछ देरके लिए इससे मेरा मनोरंजन हो जाता। फिर घर आकर खा-पीकर संगी-साथियोंके अभावमें जल्दी ही सो जाता ; और सवेरे जल्दी उठनेकी कोई भी जरूरत न होनेसे काफी दिन-चढ़े तक बिस्तरपर पड़ा रहता ; उठते-उठते आठ-नौ बज जाते।

शरीर मिट्टी हो गया। विश्वप्रेमका भी कोई रहस्य ढूंढ़े नहीं मिला। कभी भी अकेले रहनेकी आदत न होनेसे संगी-हीन गंगा-तट सुनसान श्मशान-सा मालूम होने लगा। और अमूल्य भी कैसा गधा है कि एक दिनके लिए भी उसने अपनी प्रतिज्ञा भंग नहीं की !

इसके पहले, मैं कलकत्तामें बैठा सोचा करता था कि विशाल छायादार वटवृक्षके नीचे पैर पसारकर बैठूंगा ; मेरे सामनेसे कल-नादिनी स्रोतस्विनी अपनी धुनमें बहती चली जा रही

होगी, बीचमें अपने सपनोंमें मग्न कवि होगा ; और उसके चारों तरफ होगा भाव-राज्य और वहिःप्रकृति। काननमें पुष्प होंगे, पेड़ोंकी डालियोंपर विहंग होंगे, आकाशमें तारे होंगे, मनमें विश्वजनीन प्रेम होगा और लेखनीके मुंहसे अश्रान्त अनन्त भावस्रोत विचित्र छन्द में प्रवाहित होता रहेगा। किन्तु कहाँ है वह प्रकृति, कहाँ है प्रकृतिका वह कवि, कहाँ है वह विश्व और कहाँ है विश्वप्रेमी! एक दिन भी तो मैं बगीचेमें नहीं घूमा। काननके पुष्प काननमें खिलते हैं, आकाशके तारे आकाशमें चमकते हैं, वटवृक्षकी छाया वटवृक्षके नीचे ही पड़ी रहती है, और मैं घरका घर ही में पड़ा रहता हूँ।

अपनी महिमाको किसी भी तरह प्रमाणित न कर सकनेके कारण वामाचरणके प्रति मेरा क्रोध क्रमशः बढ़ता ही गया।

उस समय बाल्य-विवाहको लेकर देशके शिक्षित समाजमें जबरदस्त वाकयुद्ध छिड़ गया था। वामाचरण बाल्य-विवाहके विरोधी पक्षमें थे ; और ऐसा सुननेमें आया था कि वे किसी युवती कुमारीके प्रणय-जालमें फँसे हुए हैं और शीघ्र ही परिणय-जालमें फँसनेकी उम्मीदमें दिन काट रहे हैं।

विषय मेरे लिए अत्यन्त कौतुकप्रद और दिलचस्प था ; और विश्वप्रेमका महाकाव्य किसी तरह हाथ न लगा तो बैठे-बैठे मन-ही-मन वामाचरणको नायकका आदर्श बनाकर कदम्बकलि नामकी एक काल्पनिक नायिकाको खड़ी करके एक सुतीव्र प्रहसन लिख डाला। लेखनी-द्वारा इस अमर कीर्तिका प्रसव हो जानेके बाद मैं कलकत्ता जानेकी तैयारी करने लगा। इतनेमें मेरी यात्रामें एक जबरदस्त विघ्न आ खड़ा हुआ।

३

एक दिन स्टेशन न जाकर यों-ही अलसाया हुआ मैं अपने बगीचेवाले मकानके कमरोंमें घूम-फिर रहा था। जरूरत न होनेसे इसके पहले उन कमरोंमें कभी नहीं गया ; कारण, बाह्य वस्तुओंके संबंधमें मेरे अन्दर किसी तरहका कुतूहल या दिलचस्पी कतई नहीं थी। उस दिन महज वक्त काटनेके लिए हवामें उड़ते-हुए डंठलसे गिरे पत्तेकी तरह इधर-उधर घूम-फिर रहा था।

उत्तरकी तरफका दरवाजा खोलते ही मैं एक छोटेसे बरंडेमें जा पहुंचा। बरंडेके सामने बगीचेकी उत्तरी सीमाकी दीवारसे लगे हुए बड़े-बड़े दो जामुनके पेड़ थे। दोनों पेड़ोंके बीचमेंसे बगल-वाले बगीचेकी सुदीर्घ बकुल-वीथीका कुछ अंश दिखाई दे रहा था।

किन्तु यह सब मैंने पीछे देखा था, तब इतना देखनेका अवकाश ही कहाँ था, तब तो मुझे सिर्फ षोड़शी युवती ही दिखाई दी थी, जो कि हाथमें किताब लिये सिर झुकाये टहलती-हुई बड़ी तन्मयतासे अध्ययन कर रही थी।

ठीक उस समय किसी तरहकी तत्त्वालोचना करनेकी मुझमें सामर्थ्य नहीं थी, किन्तु कुछ दिन बाद मैंने सोचा था कि दुष्यन्त बड़े-बड़े धनुष-बाण लेकर रथपर चढ़के मृगयाको गये थे ; मृग तो मरा नहीं, बीचमेंसे दैववश दस मिनटके लिए पेड़की ओटमें खड़े होकर जो-कुछ उन्होंने देखा और सुना, वही उनके जीवनके सम्पूर्ण देखने-सुननेमें प्रधान बनकर रह गया। मैं भी कलम पेन्सिल और कागज-कापी लेकर काव्य-मृगयाके लिए घरसे

निकला था। विश्वप्रेम बेचारा जान बचाकर भागा; और मैंने दो जामुनके पेड़ोंकी ओटमेंसे जो-कुछ देखना था सो देख लिया। मनुष्य अपने एक जीवनमें दो बार ऐसा नहीं देख सकता।

संसारमें बहुत-सी ऐसी चीजें हैं जो मैंने नहीं देखीं। जहाज पर नहीं चढ़ा, हवाई-जहाजपर नहीं उड़ा, कोयलेकी खानमें नहीं उतरा; किन्तु, अपने मानसी आदर्शके सम्बन्धमें मैं सम्पूर्ण भ्रान्त और अज्ञ हो सकता हूं, उत्तरका दरवाजा खोलनेके पहले तक ऐसा सन्देह भी मेरे मनमें कभी उदित नहीं हुआ। मेरी उमर इक्कीसको लाँघनेकी तैयारी कर रही थी, इस बीचमें मेरे अन्तःकरणने कल्पनाके योगबलसे नारीके सौन्दर्यकी एक ध्यान-मूर्ति न गढ़ ली हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। उस मूर्तिको नानाप्रकारके वेश भूषणोंसे सजाया है और अनेक अवस्थाओंमें स्थापित किया है, किन्तु कभी भी सुदूर स्वप्नमें भी उसके पाँवोंमें रङ्गीन चप्पल, बदनपर आधुनिक ढंगकी कुड़ती, हाथमें किताब देखूंगा, ऐसी आशा नहीं की; और न ऐसी इच्छा ही थी।

किन्तु, मेरी मानस-लक्ष्मीने तो फागुनके अन्तमें, संध्याके पहले प्रवीण वृक्षश्रेणीके काँपते-हुए घने पल्लवोंके चँदोवेकी लम्बी छाया और धूपकी विचित्र रेखाओंसे अङ्कित पुष्प-वीथिकामें जूते और कुड़ती पहने-हुए, किताब हाथमें लिये, दो जामुनके पेड़ोंकी ओटमेंसे इस तरह अकस्मात् ही दर्शन दिये। और मैं देखतेका देखते ही रह गया।

दो मिनटसे ज्यादा नहीं देख सका। नाना छिद्रोंमेंसे नाना प्रकारसे देखनेकी कोशिश की, लेकिन कुछ नतीजा नहीं निकला।

उस दिन पहले-पहल संध्याके पहले वटवृक्षके नीचे पैर पसारकर बैठा। मेरी आँखोंके सामने उस पारकी घनी तरुश्रेणी थी, उसके ऊपर संध्याके तारे प्रशान्त मुसकराहटके साथ उदित हुए ; और फिर देखते-देखते संध्या-सुन्दरीने अपने नाथ-हीन अत्यन्त निर्जन सुहाग-मन्दिरका द्वार खोल दिया ; और चुपचाप जहाँकी तहाँ खड़ी रही।

जो किताब मैंने उसके हाथमें देखी थी वह मेरे लिए एक नया रहस्य-निकेतन हो गई। सोचने लगा, कौन-सी किताब है वह, उपन्यास है या काव्य ? उसमें कैसी बातें लिखी हैं ? जो पन्ना खुला हुआ था और जिसपर अपराह्न-वेलाकी वह छाया और रवि-रश्मि, वकुल बनका वह पल्लव-मर्मर और वीथिका-विहारिणीकी उत्सुकतापूर्ण स्थिर दृष्टि पड़ रही थी, खासकर उस पन्नेमें कहानीका कौन-सा अंश, काव्यका कौन-सा रस प्रकट हो रहा था ? साथ-साथ यह भी सोचने लगा कि बिखरे हुए केश-जालकी घनी छायाके नीचे उसके सुकमार ललाट-मण्डपके भीतर विचित्र भावोंका आवेश कैसे अपना विलास दिखा रहा होगा, कुमारी हृदयकी निभृत निर्जनतामें बैठी नई-नई काव्य-माया कैसे अपूर्व सौन्दर्य-लोकका सृजन कर रही होगी ? आधी रात तक मैं ऐसी ऐसी न जाने कितनी बातें सोचता रहा, जिनका समझमें आने-लायक वर्णन करना बिलकुल असम्भव है।

मगर, वह कुमारी ही है, यह बात मुझे किसने बताई ? मुझसे बहुत पहलेके प्रणयी दुष्यन्तको, परिचय-प्राप्तिके पहले ही

शाकुन्तलाके बारेमें जिन्होंने आश्वासन दिया था, उन्हींने। वे थीं स्वयं मनकी वासना, वे आदमीको सच-झूठ मिलाकर असंख्य बातें कह दिया करती हैं ; कोई बात ठीक उतर जाती है तो कोई बिलकुल ही नहीं उतरती ; दुष्यन्त और मेरी बात ठीक उतर गई थी।

मेरी यह अपरिचिता प्रतिवेशिनी विवाहिता है या कुमारी, ब्राह्मण है या शूद्र, इसका निर्णय करना मेरे लिए कठिन नहीं था, किन्तु मैंने ऐसा कुछ नहीं किया ; मैं तो सिर्फ नीरव चकोरकी तरह हजारों योजन दूरसे अपने चन्द्रमण्डलको घेर-घेरकर ऊर्ध्वकंठसे निरीक्षण करनेकी अश्रान्त चेष्टा करता रहा।

दूसरे दिन दोपहरको एक छोटी नाव किरायेपर लेकर किनारेकी तरफ देखता हुआ मैं ज्वारके मन्द-मन्द बहावमें बहने लगा। मल्लाहोंसे दाँड़ चलानेकी मनाही कर दी।

मेरी शकुन्तलाके तपोवनकी कुटीर गङ्गाके किनारे ही थी। कुटीर ठीक कण्वकी कुटीर-सी नहीं थी; गंगा-तटसे घाटकी सीढ़ियाँ विशाल अट्टालिकाके बरामदे तक चढ़ती चली गई थीं; और बरामदा लकड़ीकी ढालू छतकी छायासे छायामय था।

मेरी नाव जब नीरव मन्थर गतिसे बहती हुई घाटके ठीक सामने पहुंची, तो मैंने देखा, मेरी नवयुगकी शकुन्तला बरामदेमें जमीनपर बैठी है। पीठकी तरफ एक चौकी है, उसपर कुछ किताबें रखी हैं, और उन किताबोंपर उसके खुले हुए बालोंका ढेर लगा हुआ है। और वह चौकीका सहारा लेकर ऊपरकी तरफ मुंह किये हुए अपनी बाईं बाँहपर सिर रखे पड़ी है। नावसे उसका चेहरा नहीं दिखाई देता, सिर्फ सुकोमल कंठकी एक सुकुमार

वक्र रेखा दीख पड़ती है, और खुले हुए दो पद-पल्लवोंमेंसे एक घाटकी ऊपरवाली सीढ़ीपर और दूसरा उसके नीचेकी सीढ़ीपर फैला हुआ है, साड़ीकी काली किनारी तिरछी होकर दोनों पैरोंको घेरे हुए है। एक किताब मनोयोग-हीन शिथिल दाहने हाथसे स्खलित होकर जमीनपर लोट रही है। दूरसे ऐसा लगा जैसे मूर्तिमती मध्याह्न-लक्ष्मी हो। मालूम हुआ मानो दिनके काम-काजसे सहसा थकी हुई कोई निस्पन्द सुन्दरी अवसर-प्रतिमा अपनी श्रान्ति दूर कर रही हो। उसके चरणोंके नीचे गंगा, सामने सुदूर गंगा-पारकी तरुश्रेणी और ऊपर तीव्रतम नील अम्बर अपनी उस अन्तरात्मा-रूपिणीकी ओर, उसके खुले हुए पदपल्लवोंकी ओर, उसकी अलस-विन्यस्त बाईं भुजाकी ओर, उसकी बंकिम कंठ-रेखाकी ओर अत्यन्त निस्तब्ध एकाग्रताके साथ टकटकी लगाये चुपचाप देख रहा हो।

जब तक दिखाई दी, देखता रहा। अपने सजल-पल्लव नेत्रोंसे मैंने उन दोनों चरणकमलोंको बार-बार धो-पोंछकर अपने हृदयसे लगाया।

अन्तमें नाव जब कुछ दूर निकल गई, बीचमें एक पेड़की ओट बाधा बनकर आड़े आ खड़ी हुई, तब सहसा कैसी-तो एक त्रुटि की याद उठ आई। चौंककर मैंने माझीसे कहा, "माझी, आज मैं नहीं जा सकूंगा, बस यहींसे लौट चलो।" लेकिन लौटते वक्त विपरीत बहावमें डाँड़ चलानेकी जरूरत पड़ी। डाँड़की आवाजसे मैं संकुचित हो उठा। वह आवाज मानो ऐसे किसी पर चोट करने लगी जो सचेतन सुन्दर और सुकुमार है, जो

अनन्त आकाशव्यापी है, और साथ ही हरिण-शिशुके समान भीरु है। नाव जब घाटके पास पहुंची तो डाँड़की आवाज सुनकर मेरी प्रतिवेशिनीने पहले तो धीरेसे मुंह उठाकर मृदु कुतूहलके साथ मेरी नावकी तरफ देखा, पर दूसरे ही क्षण मेरी व्यग्र व्याकुल दृष्टिपर नजर पड़ते ही वह चौंककर घरके भीतर चली गई। मुझे ऐसा लगा जैसे मैंने उसे चोट पहुंचाई हो, और उससे मानो उसके कहीं गहरी ठेस पहुंची हो।

जल्दीमें उठके जाते समय उसकी गोदमेंसे एक आधा खाया हुआ अधपका अमरूद लुढ़कता-हुआ नीचेकी सीढ़ीपर आ पड़ा; और उस दशन-चिह्नित अधर-चुम्बित फलके लिए मेरा सम्पूर्ण अन्तःकरण उत्सुक हो उठा; किन्तु माझी-मल्लाहोंकी शरमसे मेरे मनकी मन ही में रह गई, मैं दूरसे उसे देखता हुआ आगे बढ़ने लगा। देखा कि रह-रहकर ज्वारका लालची पानी छलक-छलक कर अपनी लोलुप रसनासे उस फलको हथियानेकी भरसक कोशिश कर रहा है। इस बातकी कल्पना करके कि आध घंटेके अन्दर उसका निर्लज्ज अध्यवसाय जरूर चरितार्थ होगा, मैं क्लिष्ट-चित्तसे अपने घाटपर उतरा; और नाव छोड़ दी।

वटवृक्षकी छायामें पैर पसारे बैठा-बैठा दिन-भर स्वप्न देखने लगा, दो सुकोमल पद-पल्लवोंके आगे विश्वप्रकृति मस्तक झुकाये पड़ी है, आकाश प्रकाशमय है, धरणी पुलकित है, हवा उतावली हो उठी है, और उसमें हैं दो अनावृत चरण, स्थिर निस्पन्द सुन्दर; वे जानते भी नहीं कि उनकी रेणुकी मादकतासे तप्त-यौवन नव-वसन्त दिशा-विदिशाओंमें रोमांचित हो उठा है।

इसके पहले प्रकृति मेरे लिए विक्षिप्त और विच्छिन्न थी ; नदी वन आकाश यह सब-कुछ मुझसे अलग था। आज उस विशाल विपुल विकीर्णतामें एक सुन्दरी प्रतिमा दिखाई देते ही मेरा पहलेका सब-कुछ सहसा अवयव धारण करके एक हो उठा। आज प्रकृति मेरे लिए एक है और सुन्दर है, वह दिन-रात प्रतिक्षण मूक रहकर मुझसे अनुनय कर रही है, कह रही है, "मैं मौन हूं, तुम मुझे भाषा दो, मेरे अन्तःकरणमें जो एक अव्यक्त स्तव उठ रहा है, तुम उसे छन्दमें लयमें तानमें, अपनी सुन्दर मानवी भाषामें, ध्वनित कर दो।"

प्रकृतिके इस नीरव अनुनयसे मेरे हृदयकी तंत्री बज-बज उठती है। बार-बार मैं सिर्फ एक ही गीत सुन रहा हूं, "हे सुन्दरी, हे मनोहारिणी, हे विश्वजयिनी, हे प्राण-पतंगकी एकमात्र दीपशिखा, हे अपरिसीम-जीवन, हे अनन्त मधुर मृत्यु!" इस गीतको मैं खतम नहीं कर सकता, किसीसे संलग्न नहीं कर सकता, इसे आकार देकर परिस्फुट नहीं कर सकता; और न छन्दोंमें गूंथ कर व्यक्त ही कर सकता हूं। मालूम होता है, मेरे हृदय-मनमें ज्वारके पानीकी तरह एक अनिर्वचनीय अपरिमेय शक्तिका संचार हो रहा है, अभी तक उसे मैं अपने वशमें नहीं ला सका हूं। जब वह हाथमें आ जायेगा तब मेरा कंठ अकस्मात् दिव्य संगीतसे ध्वनित हो उठेगा ; मेरा ललाट अलौकिक आभासे आलोकित हो उठेगा।

ठीक इसी समय, एक नाव उस पारके नईहट्टी स्टेशनसे पार होकर हमारे बगीचेके घाटपर आ लगी। दोनों कंधोंपर चुनी हुई

चादर लटकाये, बगलमें छतरी दबाये, अमूल्यचरण आ पहुंचा। अकस्मात् मित्रको देखकर मेरे मनमें जैसा भावोदय हुआ, आशा करता हूं, शत्रु के प्रति भी किसीका वैसा भाव न हो। दोपहरके वक्त मुझे बड़की छाया-तले बिलकुल पागलकी तरह बैठा देख अमूल्यके मनमें शायद बड़ी-भारी आशाका संचार हुआ। इस डरसे कि कहीं भारतके भावी सर्वश्रेष्ठ काव्यका कोई अंश उसके पैरोंकी आहटसे चकित होकर जंगली राजहंसकी तरह सहसा पानीमें न जा पड़े, वह बड़े संकोच और सावधानीके साथ मन्थरगतिसे मेरी तरफ आने लगा। उसका ढंग देखकर मुझे और भी ज्यादा गुस्सा आया, मैं कुछ अधीर होकर बोला, "क्यों, क्या बात है अमूल्य, पाँवमें काँटा गड़ गया क्या ?" अमूल्यने सोचा, मैंने कोई बड़ी-भारी मजेकी बात कही है। हंसता हुआ वह मेरे पास आया, और जेबमेंसे रूमाल निकालकर उसकी तह खोलकर उससे खूब अच्छी तरह जमीन झाड़कर रूमाल बिछाके बैठ गया। बोला, "तुमने जो प्रहसन लिखकर भेजा था उसे पढ़कर मैं तो हंसते-हंसते लोट-पोट हो गया।"

इतना कहकर वह मेरे प्रहसनमेंसे यहाँ-वहाँका अंश सुनाता हुआ फिर हंसते-हंसते ऐसा लोटपोठ होने लगा कि दम रुकनेकी नौबत आ गई। मेरा जी चाहने लगा कि जिस कलमसे वह प्रहसन लिखा गया है वह कलम जिस पेड़की लकड़ीसे बनी हो उस पेड़को जड़-समेत उखाड़कर किसी धधकती-हुई आगमें मय-प्रहसनके जलाकर खाक कर दूं। फिर भी शायद मेरा खेद नहीं मिटनेका।

अमूल्यने बड़े संकोचके साथ पूछा, "तुम्हारा काव्य कहाँ तक लिखा गया ?" सुनकर मेरे आग-सी लग गई, मन-ही-मन कहा, 'जैसा मेरा काव्य है वैसी ही तुम्हारी बुद्धि।' और मुंहसे कहा, "काव्यकी बात पीछे करूंगा भाई, व्यर्थ मुझे परेशान न करो।" और वहाँसे उठकर चल दिया।

अमूल्य कूतूहली आदमी ठहरा, चारों तरफ निगाह दौड़ाये बगैर उससे नहीं रहा जाता। उसके डरसे मैंने उठकर उत्तरका दरवाजा बन्द कर दिया। वह चटसे पूछ बैठा, "उधर क्या है भाई !" मैंने कहा, "कुछ नहीं।" इतना बड़ा झूठ मैंने अपने जीवनमें कभी नहीं कहा।

दो दिन तक मुझे नानाप्रकारसे नोंचकर, जलाकर, तीसरे दिन वह शामकी गाड़ीसे रवाना हो गया। उसके रहते मैं बगीचे के उत्तरकी तरफ कतई नहीं गया, उधर नजर तक नहीं की। कंजूस जैसे अपने रत्न-भण्डारको छिपाये रखता है उसी तरह मैं अपने बगीचेकी उत्तरी सीमाको औरोंकी निगाहसे बचाता रहा। अमूल्यके जाते ही मैंने दौड़कर उस दरवाजेको खोल दिया; और बरंडेमें जा बैठा। ऊपर उन्मुक्त आकाशमें कृष्णपक्षके प्रारम्भकी चाँदनी छिटक रही थी, और नीचे बगीचेमें चाँदनी और छायाकी आँख-मिचौनी चल रही थी। मर्मरित पल्लवोंके दीर्घनिश्वाससे, पेड़ोंके झरे हुए बकुलफूलके निविड़ सौरभसे और संध्या-अरण्यकी स्तम्भित संयत निस्तब्धतासे बगीचेका प्रदोषान्धकार रोम-रोममें परिपूर्ण हो उठा था। और, ठीक इसी समय, मेरी कुमारी प्रतिवेशिनी अपने वृद्ध पिताका दाहना हाथ पकड़कर धीरे-धीरे

टहलती हुई उनसे बात कर रही थी, और पिता स्नेह और श्रद्धासे झुककर ध्यानसे सब सुन रहे थे। इस पवित्र स्निग्ध वार्तालापमें विघ्नकी कहीं कोई आशंका न थी, संध्याकी शान्त नदीमें क्वचित् डाँड़का शब्द होता और दूर ही में विलीन हो जाता ; और पेड़ोंके असंख्य नीड़ोंमेंसे दो-एक पक्षी बीच-बीचमें क्षण-भरके लिए बोल उठते। किन्तु मुझे ऐसा लगने लगा कि मेरा हृदय, चाहे आनन्दसे हो या वेदनासे, मानो विदीर्ण हुआ जा रहा हो। मेरा अस्तित्व मानो प्रसारित होकर उस छाया और चाँदनीसे चित्रित धरणीसे जा मिला, मैं अपने वक्षःस्थलपर अपनी पड़ोसिनके धीर-पदक्षेपका अनुभव करने लगा ; और तरु-पल्लवोंसे संलग्न होकर मेरे कान मानो मधुर मृदु गुंजनध्वनि सुनने लगे। उस विशाल मूढ़ प्रकृतिकी अन्तर्वेदना मानो मेरे सारे शरीरकी अस्थिओंमें कुहरित हो उठी, और मानो मैं समझ गया कि धरणी पाँवके नीचे पड़ी रहती है किन्तु पाँवोंको जकड़के पकड़ नहीं सकती, और इसीलिए भीतर-ही-भीतर वह कैसी-तो होती रहती है; पत्ते और डालियोंसे झुके हुए पेड़ बात सुन सकते हैं किन्तु समझ नहीं पाते, और इसीलिए वे अपने पत्ते और डालियोंके संघर्षके उन्मत्त कलशब्दसे हाहाकार कर उठते हैं। मैं भी अपने सर्वाङ्ग और सर्वान्तःकरणमें उन पदक्षेपोंका, उस वार्तालापका, पूरी तरह अनुभव करने लगा, किन्तु किसी भी तरह उसे अपने अन्दर पकड़कर न रख सकनेके कारण तड़प-तड़पके मरने लगा।

दूसरे दिन मुझसे न रहा गया। सवेरे ही पहुंच गया अपने पड़ोसीसे मिलने। वृद्ध भवनाथ बाबू उस समय चायका प्याला

पासमें रखे, आँखोंपर चश्मा चढ़ाये, नीली पेन्सिलसे चिह्नित मिल्टनकी एक पुरानी किताब बड़े ध्यानसे पढ़ रहे थे। मैं जब उनके पास पहुँचा तो उन्होंने चश्मा ऊपर चढ़ाकर अन्यमनस्क भावसे एक बार मेरी ओर देखा, किताबसे अपने मनको वे उसी क्षण अलग न कर सके। अन्तमें, अकस्मात् चौंककर जरा-कुछ व्यस्तताके साथ मेरे आतिथ्यके लिए उठ खड़े हुए। मैंने संक्षेपमें अपना परिचय दिया। वे ऐसे चंचल हो उठे कि चश्माकी खोली उन्हें ढूंढ़े न मिली। खामखा मुझसे पूछ बैठे, "आप चाय पीयेंगे ?" हालाँ कि मैं चाय नहीं पीता, फिर भी कह बैठा, "पी लूंगा।" भवनाथ बाबू व्यस्त हो उठे; और 'किरन' कहकर शायद कन्याको पुकारने लगे। दरवाजेके पास अत्यन्त मधुर शब्द सुनाई दिया, "क्या है बापूजी !" मैंने मुड़कर देखा कि तापस कण्वकी दुहिता सहसा मुझे देखकर त्रस्त हरिणीकी भाँति भागनेको तैयार है। भवनाथ बाबूने उसे पास बुलाकर मेरा परिचय देते हुए कहा, "ये हमारे पड़ोसी हैं महीन्द्रकुमार बाबू।" और मुझसे बोले, "यह मेरी कन्या है किरणबाला।"

मैं क्या करूँ, मेरी कुछ समझमें न आया; और इस बीचमें किरण मुझे आनम्र सुन्दर नमस्कार भी कर चुकी। मैंने जल्दीसे अपनी त्रुटिको सम्हालते हुए प्रतिनमस्कार किया। भवनाथ बाबूने कहा, "बेटी, महीन्द्र बाबूके लिए एक प्याला चाय तो ले आओ।" मैं मन-ही-मन अत्यन्त संकुचित हो उठा, किन्तु मुँह खोलकर कुछ कहनेके पहले ही किरण चाय लाने चली गई। मुझे ऐसा लगा मानो कैलास पर्वतपर सनातन भोलानाथने अपनी कन्या स्वयं

लक्ष्मीसे अतिथिके लिए चायका प्याला लानेको कहा ; और अतिथिके लिए वह अवश्य ही विशुद्ध अमृत होगा। किन्तु फिर भी, आसपास क्या नन्दी-भृंगी कोई भी कहीं हाजिर नहीं था।

४

भवनाथ बाबूके घर अब मैं नित्यका अतिथि हूं। पहले चायसे मैं बहुत ही डरता था, लेकिन अब तो सुबह-शाम दोनों वक्त चाय पीते-पीते मुझे चायका पूरा नशा हो गया है।

शुरू-शुरूमें मैं इस बहानेसे भवनाथ बाबूके घर जाया करता था कि कुछ दिन पहले बी० ए० परीक्षाके लिए मैंने जो जर्मन विद्वान-लिखित दर्शनशास्त्रका नया इतिहास पढ़ा था उस विषयमें उनसे आलोचना करके कुछ सीखूँगा। किन्तु बादमें जब देखा कि वे हैमिल्टन आदिकी पुराने जमानेमें प्रचलित कुछ भ्रान्त पोथियोंमें भटक रहे हैं, तो उन्हें मैंने कृपाका पात्र समझा ; और उनके सामने मैं अपनी नई विद्याको अत्यन्त आडम्बरके साथ प्रकट करने लगा। भवनाथ बाबू ऐसे भले आदमी हैं और सभी विषयोंमें इतने संकोचशील हैं कि मुझ जैसे कम उमरके युवकोंके मुँहकी बातें भी मान लेते थे ; जरा भी कहीं प्रतिवाद करनेकी जरूरत महसूस करते, तो मारे संकोचके अस्थिर हो उठते ; डरते कि कहीं मुझे बुरा न लग जाय। किरन हमारे इस आलोचनाके बखेड़ेमेंसे किसी-न-किसी बहानेसे उठके चली जाती। इससे मुझे क्षोभ भी होता और गर्व भी। मैं समझता, हमारे आलोच्य विषयका दुरूह पाण्डित्य किरनके लिए दुःसह है ; वह जब

मन-ही-मन मेरे विद्या-पर्वतकी ओर देखती होगी तो उसे कितना ऊँचा देखना पड़ता होगा !

किरनको जब मैं दूरसे देखता था तब उसे मैं शकुन्तला दमयन्ती आदि विचित्र नामों और विचित्र रूपोंमें जानता था ; किन्तु अब घरमें उसे मैंने 'किरन'के रूपमें जाना ; अब वह मेरे लिए जगतकी विचित्र नायिकाकी छायारूपिणी नहीं है, अब वह एकमात्र किरन है। अब वह सौ-सौ शताब्दियोंके काव्य-लोकसे अवतीर्ण होकर, अनन्तकालके युवक-चित्तका स्वप्न-स्वर्ग छोड़कर एक निर्दिष्ट भारतीय घरमें कुमारी कन्याके रूपमें विराज रही है। वह मेरी ही मातृभाषामें मेरे साथ अत्यन्त साधारण घरेलू बातें करती है, साधारण बातमें सरलतासे हँस उठती है, वह हमारे ही घरकी और-और लड़कियोंकी तरह हाथोंमें सोनेके कड़े पहने रहती है, गलेका हार कोई खास विशेषता नहीं रखता, किन्तु बड़ा मीठा लगता है, साड़ीका पल्ला कभी जूड़ेके ऊपरसे घूमकर नीचे उतरता है तो कभी अपनी जगहसे खिसक-खिसक जाता है। ये सब बातें मेरे लिए बड़े आनन्दकी थीं। और चूंकि वह काल्पनिक नहीं, सत्य है, वह किरन है, इसके सिवा वह और-कुछ नहीं, इससे ज्यादा भी नहीं, कम भी नहीं, और यद्यपि वह मेरी नहीं फिर भी वह हमारी है, इसलिए मेरा अन्तःकरण सर्वदा ही उसके प्रति उच्छ्वसित कृतज्ञता-रससे अभिषिक्त होता रहता।

एक दिन, 'ज्ञान-मात्रकी आपेक्षिकता' के विषयमें भवनाथ बाबूके साथ मैं अत्यन्त उत्साहके साथ वाचालता प्रकट कर रहा था ; आलोचना कुछ ही दूर आगे बढ़ी थी कि किरन उठके चली

गई ; और थोड़ी देर बाद ही सामनेके बरामदेमें एक सिगड़ी और रसोईका सामान रखकर मीठे स्नेहके साथ पिताको डाटती हुई बोली, "बापूजी, क्यों तुम ऐसी-ऐसी कड़ी-कड़ी तत्त्वकी चर्चा छेड़कर महीन्द्र बाबूको परेशान कर रहे हो, बकते-बकते उनका गला सूखा जा रहा है!" और मुझसे बोली, "आइये, महीन्द्र बाबू, इससे तो आप मेरे रसोईके काममें मदद करें तो अच्छा।"

असलमें, इसमें भवनाथ बाबूका कोई दोष नहीं था ; और किरन भी इस बातको जानती थी। किन्तु फिर भी भवनाथ बाबू अपराधीकी तरह अनुतप्त होकर जरा-कुछ हँसते हुए बोले, "हाँ हाँ, तुम ठीक कह रही हो। अच्छा, ये सब बातें फिर-कभी होंगी।" और फिर वे निरुद्विग्न चित्तसे अपने नित्य-नियमित अध्ययनमें तल्लीन हो गये।

फिर एक दिन, तीसरे पहर, एक-और गम्भीर विषय छेड़कर मैं भवनाथ बाबूको स्तम्भित किये दे रहा था कि बीचमें किरनने आकर कहा, "महीन्द्र बाबू, अबलाको जरा सहायता करनी पड़ेगी। दीवारपर लता चढ़ानी है, मेरा हाथ नहीं पहुंचता, आपको कीलें गाड़कर मेरी मदद करनी होगी।" मैं मारे खुशीके फूला न समाया, तुरत उठकर चल दिया ; और भवनाथ-बाबू भी प्रसन्नचित्तसे पढ़ने बैठ गये।

इस तरह देखा गया कि जब भी कभी मैं भवनाथ-बाबूसे किसी गम्भीर विषयकी चर्चा छेड़नेकी तैयारी करता, किरन ठीक उसी वक्त बीचमें आकर किसी-न-किसी कामका बहाना बताकर सब चौपट कर देती। इससे मैं मन-ही-मन पुलकित हो उठता।

मैं समझ गया कि किरनके हाथ में पकड़ाई दे चुका हूं ; और उसने भी शायद समझ लिया कि भवनाथ बाबूके साथ तत्त्वालोचना करना मेरे जीवनका चरम सुख नहीं है।

बाह्य वस्तुओंके साथ हमारे इन्द्रिय-ज्ञानका सम्बन्ध निर्णय करता हुआ जब कि मैं दुरूह रहस्य-रसातलकी मँझधारमें पहुंच रहा था, ठीक उसी समय किरनने आकर कहा, "महीन्द्र बाबू, चलिये, रसोईके पास मैंने जो बैंगनका खेत बोया है, आपको दिखा लाऊँ, चलिये।"

एक दिनकी बात है, मैं अनेक युक्तियोंसे यह सिद्ध कर रहा था कि आकाशको असीम समझना सिर्फ हमारा एक अनुमान है, हमारी अभिज्ञता और कल्पना-शक्तिके बाहर कहीं भी किसी न किसी रूपमें उसकी सीमा रहना जरा भी असंभव नहीं, इतनेमें किरन आ पहुंची ; और बोली, "महीन्द्र बाबू, बगीचेमें दो आम पक गये हैं, चलके जरा डाली झुका दें तो मैं तोड़ लूँ।"

कैसा उद्धार था, कैसी मुक्ति थी! असीम समुद्रके बीचमेंसे एक ही क्षणमें कैसे सुन्दर तटपर आ जाता था। अनन्त आकाश और बाह्य वस्तुओंके सम्बन्धमें संशयजाल कितना ही जटिल और दुश्छेद्य क्यों न हो, किरनके बैंगनके खेत या पके आमोंके बारेमें किसी प्रकारकी दुरूहता और सन्देहका लेशमात्र न था। काव्य या उपन्यासोंमें वे उल्लेखयोग्य भले ही न हों, किन्तु जीवनमें वे समुद्र-वेष्टित द्वीपकी तरह मनोहर हैं। जमीनसे पाँवोंका लगना कितना आरामदे है, इस बातको वही जानता है जो बहुत देरसे पानीमें तैर रहा हो। इतने दिनोंसे मैंने अपनी कल्पनामें जिस

प्रेम समुद्रका सृजन किया था वह अगर सच होता, तो वहाँ चिरकाल तक मैं कैसे बहता रहता, मैं नहीं कह सकता। वहाँ आकाश भी असीम होता और समुद्र भी; वहाँसे हमारी प्रतिदिनकी विचित्र जीवन-यात्राकी सीमित घटनाएँ बिलकुल ही निर्वासित होतीं; वहाँ तुच्छताका लेशमात्र न होता, वहाँ सिर्फ छन्द लय और संगीतमें भाव व्यक्त करने पड़ते, और थाह लेनेकी कोशिश करता तो थाह भी नहीं मिलती। किरन उस तत्त्व-समुद्रमें डूबते हुए इस अभागेको निकालके जब अपने आम्रकाननमें ले गई, तो पाँवोंके नीचे जमीन पाकर मैं जी गया। मैंने देख लिया कि बरंडेमें बैठकर खिचड़ी राँधनेमें, नसेनीपर चढ़कर दीवारमें कीलें ठोंकनेमें, पके आम तोड़नेके लिए डाली झुकानेमें अकल्पनीय आनन्द मिल सकता है; और मजा यह कि उस आनन्दके लिए जरा भी प्रयास नहीं करना पड़ता। स्वतः जो बात मुंहसे निकलती है, अपने आप ही जो हँसी खिल-खिल उठती है, आकाशसे जितना प्रकाश आता है और पेड़ोंके नीचे जितनी छाया पड़ती है, बस, उतना ही काफी है। इसके सिवा मेरे पास एक जादूकी लकड़ी थी मेरा नवयौवन, एक पारस-पत्थर था मेरा प्रेम, एक अक्षय कल्पतरु था अपने प्रति अपना अखंड विश्वास। मेरा मन बोल उठा, 'मैं विजयी हूं, मैं इन्द्र हूं, अपने उच्चैःश्रवाके मार्गमें मुझे कोई बाधा ही नहीं दिखाई देती।' किरन मेरी ही किरन है, इसमें मुझे कोई भी सन्देह न रहा। अब तक यह बात मैंने साफ-साफ नहीं कही, किन्तु मैं ही जानता हूं कि मेरे हृदयको इस छोरसे लेकर उस छोर तक परम सुखसे विदीर्ण करती हुई यह बात

बिजलीकी तरह मेरे सम्पूर्ण अन्तःकरणमें किस कदर क्षण-क्षणमें थिरक-थिरककर नाच-नाच उठती थी कि 'किरन मेरी ही किरन है।'

इसके पहले मैं कभी किसी अनात्मीया महिलाके संस्रवमें नहीं आया। जो नवीन रमणियाँ शिक्षा प्राप्त करके अवरोधके बाहर विचरण करती हैं उनकी रीतिनीतिसे भी मैं कतई वाकिफ नहीं ; लिहाजा उनके आचरणमें कहाँ शिष्टताकी सीमा है, कहाँ प्रेमका अधिकार है, यह-सब मैं कुछ भी नहीं जानता। और यह भी नहीं जानता कि मुझसे क्यों कोई प्यार नहीं करेगा, मैं किस बातमें कम हूं।

किरन जब मेरे हाथमें चायका प्याला दे जाती तब चायके साथ भर-प्याला किरनका प्यार भी मैं ग्रहण करता ; और जब चाय पीता तो मन-ही-मन अनुभव करता रहता कि मेरा ग्रहण सार्थक हुआ और किरनका दान भी सार्थक हुआ। किरन अगर सहज स्वरमें कहती कि 'महीन्द्र बाबू, कल सवेरे आयेंगे न ?' तो उसमें भी छन्द और लयमें कविता-सी बज उठती—

'मोहन-सुरमें बजी बाँसुरी, सुन-सुन मुग्धा मुग्ध हुई ;
मुझ अबलाको छोड़ चले क्यों, सोच-सोच मैं क्षुब्ध हुई।'

और मैं जब साधारण तौरपर जवाब देता, कल सुबह आठ बजे आऊँगा।' तो क्या किरनके कानोंमें भी ऐसा ही कोई छन्द न बज उठता होगा ?

मेरे दिन और रातोंमें मानो अमृत समा गया। मेरी सम्पूर्ण चिन्ता और कल्पना क्षण-क्षणमें नई-नई शाखा-प्रशाखा फैलाती

हुई लताकी तरह अपनी वेष्टनीमें लपेट-लपेटकर किरनको मुझसे खूब कसके बाँधती चली गई। किसी दिन जब शुभ-अवसर आयेगा, तब मैं किरनको क्या पढ़ाऊँगा, क्या सिखाऊँगा, क्या सुनाऊँगा, क्या दिखाऊँगा, इन्हीं-सब असंख्य संकल्पोंसे मेरा मन आच्छन्न हो गया। मैंने यहाँ तक तय कर लिया कि मैं उसे ऐसी शिक्षा दूँगा जिससे जर्मन विद्वान-रचित दर्शनशास्त्रके नये इतिहाससे भी उसकी दिलचस्पी हो जाय; नहीं तो मुझे वह पूरी तरह समझ नहीं पायेगी। उसे मैं अंग्रेजी काव्य-साहित्यके सौन्दर्य-लोकमें राह दिखाता हुआ ले जाऊँगा। मैं मन-ही-मन हँसने लगा, और कहने लगा, 'किरन, तुम्हारा बैंगनका खेत और आमका बगीचा मेरे लिए नया राज्य है। मैंने कभी स्वप्नमें भी नहीं सोचा था कि उस राज्यमें बैंगन और कच्ची अँबियोंके सिवा दुर्लभ अमृतफल भी इतनी आसानीसे मिल जाया करते हैं। लेकिन, जब समय आयेगा, तब मैं भी तुम्हें ऐसे एक राज्यमें ले जाऊँगा जहाँ बैंगन नहीं फलते, किन्तु फिर भी बैंगनका अभाव एक क्षणके लिए भी महसूस न होगा। वह है ज्ञानका राज्य, कल्पना और भावोंका स्वर्ग।'

इधर मेरी छुट्टियोंके दिन पूरे हो रहे थे; और ब्याहके लिए देश पहुंचनेके लिए पिताका स्नेहपूर्ण अनुरोध क्रमशः कठोर आदेशमें परिणत हो रहा था। उसपर अमूल्य भी अब रोके रुकता नहीं दिखाई देता। न-जाने कब किस दिन वह उन्मत्त वन्य हस्तीकी तरह मेरे पद्मवनमें आ-धमकेगा और अपने विपुल चरण-चतुष्टयसे सब तहस-नहस कर देगा, कोई ठीक नहीं।

मेरा उद्वेग उत्तरोत्तर प्रबल होने लगा। और, दिन-रात मैं यही सोचने लगा कि कैसे जल्दसे जल्द हृदयकी आकांक्षाको व्यक्त करके अपने प्रणयको विकसित करूँ।

५

एक दिन, दोपहरको भवनाथ बाबूके घर जाकर देखा कि वे गरमीकी थकानसे थककर आराम-कुरसीपर बैठे-बैठे सो गये हैं; और सामने गंगातटके बरामदेके नीचे निर्जन घाटके सोपानपर बैठी किरन कोई किताब पढ़ रही है। मैं दबे-पाँव उसके पीछे जाकर खड़ा हो गया; देखा कि एक नया कविता-संग्रह है। जो पन्ना खुला हुआ है उसमें शेलीकी एक कविता उद्धृत है, और उसके एक किनारे लाल पेन्सिलकी लकीर खिंची हुई है। उस कविताको पढ़कर किरन एक दीर्घनिश्वास छोड़कर स्वप्न-भाराकुल नयनोंसे आकाशके दूरतम प्रान्तकी ओर देखने लगी। मुझे ऐसा लगा, मानो आज वह उस एक ही कविताको बार-बार घंटों तक पढ़ती रही है; और अपनी हृदय-तरणीके पालमें मात्र एक उत्तप्त दीर्घ-निश्वास भरके उसे उसने अनन्त नील आकाशमें नक्षत्रलोकके लिए छोड़ दिया है। शेलीने किसके लिए यह कविता लिखी थी, मैं नहीं कह सकता; किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि महीन्द्र कुमार नामके किसी भारतीय युवकके लिए हरगिज नहीं लिखी। मगर, इतना तो मैं दावेके साथ कह सकता हूं कि इस स्तवगानमें मेरे सिवा और-किसीका अधिकार नहीं हो सकता। किरनने उस कविताके बगलमें अपनी अन्तरतम हृदय-पेन्सिलसे एक उज्ज्वल रक्त-चिह्न अंकित कर रखा है, उस मायारेखाके मोहमंत्रसे

कविता आज उसीकी बन गई है, और साथ-साथ मेरी भी। मैंने अपने पुलकोच्छ्वसित चित्तको सम्हालकर स्वाभाविक स्वरमें कहा, "क्या पढ़ रही हैं ?" पूरे वेगसे दौड़ती हुई पाल-शुदा नाव मानो सहसा किसी टीलेसे टकरा गई। किरनने चौंककर जल्दीसे किताब बंद करके उसे अपने आँचलमें छिपा लिया। मैंने हँसते हुए कहा, "कौनसी पुस्तक है, जरा मैं देख सकता हूं ?" किरनको कैसी-तो एक ठेस-सी लग गई। वह आग्रहके साथ कह उठी, "नहीं नहीं, कुछ नहीं, फालतू है।"

मैं कुछ दूरीपर नीचेकी एक सीढ़ीपर बैठ गया ; और अंग्रेजी काव्य-साहित्यकी चर्चा छेड़ दी। ऐसे ढंगसे कहना शुरू किया कि उससे किरनको साहित्यकी शिक्षा भी मिले और अंग्रेज कविकी जबानमें मेरे मनका भाव भी व्यक्त हो सके। दोपहरकी तेज धूपकी गहरी निस्तब्धतामें जल-स्थलके छोटे-छोटे कलशब्द मीठी-मीठी लोरियोंकी तरह अत्यन्त मधुर और सकरुण होकर सुनाई देने लगे।

किरन मानो अत्यन्त अधीर हो उठी ; बोली, "बापूजी वहाँ अकेले बैठे हुए हैं, अनन्त आकाशके सम्बन्धमें अपनी बहस आज पूरी नहीं कीजियेगा ?" मैं मन-ही-मन सोचने लगा, अनन्त आकाश तो हमेशा ही बना रहेगा और उसके सम्बन्धमें बहस भी कभी खतम नहीं होगी, किन्तु जीवन क्षण-भंगुर है, और शुभ अवसर तो और-भी दुर्लभ और क्षणस्थायी है। किरनकी बातका जवाब न देकर मैंने कहा, "मेरी अपनी कुछ कविताएँ हैं, आपको सुनाऊँगा।" किरनने कहा, "कल सुनूंगी।" और दूसरे ही क्षण

बरामदेकी तरफ देखती हुई बोल उठी, "बापूजी, महीन्द्र बाबू आये हैं।"

भवनाथ बाबू नींदसे उठे हुए बालककी तरह अपने सरल नेत्रोंको खोलकर चंचल हो उठे। मेरी छातीमें धक-से एक जबरदस्त चोट-सी लगी। मैं भवनाथ बाबूके पास जाकर अनन्त आकाशके विषयमें बहस करने लगा। और, किरन किताब हाथमें लिये, शायद निश्चिन्त विविक्ततामें किताब पढ़नेकी धुनमें, ऊपर अपने सोनेके कमरेमें चली गई।

दूसरे दिन सवेरेकी डाकसे मुझे एक अंग्रेजी दैनिक पत्र मिला, जिसमें एक जगह लाल पेन्सिलका निशान था। उसमें बी० ए० का रिज़ल्ट निकला था। शुरूमें ही, प्रथम श्रेणीमें किरनबाला बन्द्योपाध्यायका नाम दिखाई दिया; उसके बाद प्रथम द्वितीय तृतीय किसी भी श्रेणीमें मेरा अपना नाम नहीं दिखाई दिया।

परीक्षामें अकृतकार्य होनेकी वेदनाके साथ-साथ वज्राग्निकी तरह एक सन्देहकी ज्वाला भी जल उठी, मैं सोचने लगा, शायद यह किरन अपनी ही किरन है। वह कॉलेजमें पढ़ी है और परीक्षा दे चुकी है, यद्यपि उसने मुझसे यह बात नहीं कही, फिर भी सन्देह मेरा क्रमशः बढ़ता ही गया। कारण, वृद्ध पिता और उनकी कन्याने अपने बारेमें कभी कोई बात नहीं कही, और मैं भी अपनी कथा सुनाने और अपनी विद्याका प्रचार करनेमें, शुरूसे ही, इतना गरक रहा कि उनके बारेमें कभी कोई बात अच्छी तरह पूछी ही नहीं।

मुझे याद है, जर्मन विद्वानके लिखे हुए दर्शनके इतिहासपर बहस करते हुए मैंने एक दिन किरनसे कहा था, "कभी अगर मौका मिला आपको कुछ किताबें पढ़ानेका, तो अंग्रेजी कविता-साहित्यके विषयमें आपकी धारणाको बिलकुल स्पष्ट कर दूँगा।' परीक्षोत्तीर्ण किरनबालाने दर्शनशास्त्रमें 'ऑनर' लिया है और साहित्यमें प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण हुई है। यह किरन अगर अपनी ही किरन हुई तो!

अन्तमें, जोरका एक धक्का देकर अपने भस्माच्छन्न अहंकारको जगाते हुए मैंने कहा, 'होने दो; मेरी रचनावली ही मेरा जयस्तम्भ है।' कहकर कापी हाथमें लेकर जल्दी-जल्दी कदम रखता हुआ, और अपने मस्तकको पहलेसे भी ज्यादा ऊँचा करके, भवनाथ बाबूके बगीचेमें जा पहुंचा।

उस समय उनके कमरेमें कोई नहीं था। मैं उनकी किताबोंको खूब ध्यानसे देखने लगा। देखा कि एक कोनेमें जर्मन विद्वानका लिखा हुआ दर्शनशास्त्रका वह इतिहास पड़ा हुआ है जिसपर मैं बहस किया करता था। खोलकर देखा तो, भवनाथ बाबूके हस्त-लिखित नोटोंसे वह भरा पड़ा है। अब मुझे सन्देह न रहा कि उन्होंने स्वयं अपनी कन्याको पढ़ाया है।

भवनाथ बाबू और-दिनोंकी अपेक्षा कहीं ज्यादा प्रसन्नचित्तसे हँसते हुए कमरेमें आये; ऐसा जान पड़ा कि अभी-अभी किसी शुभ संवादकी निर्झरधारामें नहाकर आ रहे हों। मैं अकस्मात् ही जरा-कुछ दम्भके साथ और रूखी हँसी हँसता हुआ बोला, "भवनाथ बाबू, मैं परीक्षामें फेल हुआ हूं।" यह कहकर मानो मैं उन महान व्यक्तियोंमें जा मिला जो विद्यालयकी परीक्षामें फेल

होकर जीवनकी परीक्षामें प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण हुए हैं। परीक्षा व्यवसाय नौकरी आदिमें कृतकार्य होना साधारण लोगोंका लक्षण है, निम्नतम और उच्चतम श्रेणीके लोगोंमें ही अकृतकार्य होनेकी महान योग्यता होती है। भवनाथ बाबूका चेहरा स्नेहपूर्ण करुणासे भर गया, वे अपनी कन्याकी सफलताका संवाद न सुना सके; किन्तु मेरी असंगत उग्र प्रफुल्लताको देखकर कुछ आश्चर्यमें पड़ गये। अपनी सरल बुद्धिसे वे मेरे गर्वका कारण ठीक-ठीक समझ न सके।

ठीक इसी समय, हमारे कॉलेजके नवीन अध्यापक बामाचरण बाबूके साथ किरन अपना सलज्ज सरसोज्ज्वल चेहरा लिये-हुए, वर्षासे धुली-हुई लताकी तरह छलकती हुई कमरेमें दाखिल हुई।

अब सब-कुछ मेरी समझमें आ गया; और मेरी आँखें खुल गईं।

घर आकर, उसी दिन रातको मैंने अपनी सारी रचनाएँ जला डालीं; और उसी रातको मैं देशके लिए रवाना हो गया। और देश जाकर ब्याह भी कर लिया।

गंगाके किनारे एकान्तमें रहकर जो महाकाव्य लिखनेकी बात थी वह नहीं लिख सका; किन्तु अपने जीवनमें उसे प्राप्त जरूर कर लिया है।

कर्मफल

१

आज सतीशकी मौसी सुकुमारी और मौसा शशधर बाबू आये हैं। सतीशकी मा विधुमुखी बड़ी उतावलीके साथ उनकी आवभगतमें लगी हुई हैं। बोलीं—"आओ जीजी, बैठो। आज न-जाने किस पुण्यसे जीजाजीके दर्शन मिले हैं! जीजीके बगैर तो तुम्हारे दर्शन ही दुर्लभ हैं।"

शशधर—इसीसे समझ लो कि तुम्हारी जीजीका शासन कितना कड़ा है। दिन रात आँखों-ही-आँखोंमें रखती हैं!

सुकुमारी—क्यों नहीं, ऐसे रत्नको घरमें रखके भी निश्चिन्ताईसे नींद नहीं आती।

विधुमुखी—खर्राटोंके मारे!

सुकुमारी—सतीश, छिछि, तैंने यह क्या कपड़े पहन रखे हैं। इस तरह धोती पहने ही स्कूल जायगा क्या? विधु, इसे जो सूट खरीद दिया वह क्या हुआ?

विधुमुखी—वो तो उसने कभीका फाड़-फूड़ अलग किया।

सुकुमारी—सो तो कर ही देगा। बच्चोंकी देहपर एक कपड़ा कितने दिन चलेगा। सो, तुमने फिर दूसरा क्यों नहीं बनवा दिया। तुम्हारे यहाँ कुछ चाल ही अजीब है।

विधुमुखी—तुम तो जानती ही हो जीजी, वे लड़केके बदनपर नये फैशनका कपड़ा देखते हैं तो आग-बबूला हो उठते हैं। मैं न होती तो लड़केको शायद वे दुलाई उढ़ाकर कमरमें करधनी

बाँधके ही स्कूल भेजा करते। क्या बताऊं, उनकी पसन्द ही कुछ दुनियासे न्यारी है।

सुकुमारी—बात तो ऐसी ही है। एकके सिवा दूसरा लड़का नहीं; उसे भी जरा पहराने-उढ़ानेका शौक नहीं! ऐसे बाप भी मैंने बहुत कम देखे हैं। सतीश, परसों रविवार है, मेरे यहाँ आ जाना, तेरे लिए मैं रैमजेके यहाँसे एक सूट मँगवा रखूंगी। भला बताओ तो, लड़कोंको शौक नहीं होता!

सतीश—एक सूटसे मेरा क्या होगा मौसी! भादुड़ी साहबका लड़का मेरे साथ पढ़ता है, उसने मुझे अपने घरपर पिङ्पौङ् खेलनेका निमन्त्रण दिया है। मेरे पास तो बाहर जानेका वैसा कोई सूट ही नहीं है।

शशधर—ऐसी जगह न जाना ही अच्छा है, शतीश।

सुकुमारी—अच्छा अच्छा, तुम्हें लेक्चर देनेकी जरूरत नहीं। उसकी जब तुम्हारे बराबर उमर होगी तब—

शशधर—तब उसे लेक्चर सुनानेवाला कोई दूसरा ही होगा, तब बूढ़े मौसाजीकी सलाह सुननेकी फुरसत ही न मिलेगी।

सुकुमारी—अच्छा जी, लेक्चर देनेवाला दूसरा तुम्हारे पल्ले न पड़ा होता तो तुम्हारी क्या दशा होती सो तो बताओ?

शशधर—उस बातके कहनेसे लाभ क्या? उसकी कल्पना करना ही अच्छा है।

सतीश (नेपथ्यकी ओर देखकर)—नहीं नहीं, यहाँ लानेकी जरूरत नहीं, मैं आ रहा हूं। [प्रस्थान]

सुकुमारी—सतीश इस तरह भाग क्यों गया, विधु?

विधुमुखी—नौकर थालीमें जलपान ला रहा था न, इसीसे, तुमलोगोंके सामने लड़केको शरम मालूम हुई।

सुकुमारी—अच्छा! सो तो होगी ही। ओ सतीश, सुन, सुन। तेरे मौसाजी प्लेटीके यहाँ जाकर तुझे आइस्क्रीम खिला लायेंगे, तू चला जा इनके संग। अजी सुनते हो, जरा ले जाओ न बच्चेको।

सतीश—मौसीजी, वहाँ क्या धोती पहनके जाऊँगा?

विधुमुखी—क्यों, है तो सही तेरे पास अचकन।

सतीश—भद्दी!

सुकुमारी—और चाहे जो हो विधु, तेरे लड़केने पैत्रिक पसन्द नहीं पाई, ये भी बड़े भाग्य हैं। सचमुच, अचकन देखते ही मुझे तो होटलके बौयका खयाल आ जाता है। ऐसी जंगली पोशाक दुनियामें कहीं ढूँढ़े नहीं मिलेगी।

शशधर—ये सब बातें—

सुकुमारी—चुपके-चुपके कानमें कहनी होंगी? क्यों, डर पड़ा है क्या किसीका। मन्मथ बाबू अपने पसन्दके लड़केको कपड़े पहनायेंगे और हमलोग बात भी नहीं कर सकते!

शशधर—यह तो जुल्म है। बात करनेकी मैंने कब मनाही की है। लेकिन सतीशके सामने ऐसी बातें—

सुकुमारी—अच्छा अच्छा, ठीक है। तुम उसे प्लेटीके यहाँ ले जाओ।

सतीश—नहीं मौसीजी, मैं वहाँ अचकन पहनके नहीं जाऊँगा।

सुकुमारी—लो, मन्मथ बाबू भी आ गये। अभी सतीशको वे डाटना-फटकारना शुरू कर देंगे। बापकी डाट-डपटके मारे बेचारेको घड़ी-भर भी चैन नहीं। आ सतीश, आ तू मेरे साथ चल।

[सुकुमारीका प्रस्थान : और मन्मथका प्रवेश]

विधुमुखी—सतीशने 'घड़ी-घड़ी' करके कई दिनोंसे मुझे हैरान कर रखा था। जीजीने उसे एक चाँदीकी घड़ी दी है। मैंने पहलेसे कह दिया है, फिर तुम नाराज होओ! [प्रस्थान]

मन्मथ—पहलेसे कह देनेपर भी नराज तो मैं होऊँगा ही। शशधर, घड़ी तुम्हें ले जानी पड़ेगी।

शशधर – तुम भी अच्छे आदमी हो! ले तो मैं जाऊँगा, लेकिन घर जाकर जवाबदेही कौन करेगा?

मन्मथ—मजाक नहीं, भाई साहब, मैं यह-सब पसन्द नहीं करता।

शशधर—माना कि पसन्द नहीं करते, लेकिन सहना भी तो पड़ता है। संसारमें अकेले तुम्हारे लिए ही तो अलग विधान नहीं बन सकता।

मन्मथ—मेरे अपने बारेमें कुछ होता तो मैं चुतचाप सह लेता। मगर लड़केको मैं मिट्टीमें नहीं मिला सकता। जिस लड़केको चाहते ही चीज मिल जाती है, माँगनेके पहले ही जिसका अभाव दूर हो जाता है, उससे बढ़कर अभागा और कोई नहीं। इच्छाओंका दमन करना जिसने नहीं सीखा वह कभी किसी कालमें सुखी नहीं हो सकता। वंचित होकर धीरज रखनेकी जो

दिया है, लड़केको मैं वही देना चाहता हूं ; उसके लिए घड़ी घड़ीकी चैन नहीं जुटाना चाहता।

शशधर—यह तो बड़ी अच्छी बात है भाई, लेकिन तुम्हारी मरजी होते ही तो संसारकी सारी बाधाएँ तुरत धूलमें नहीं मिल जायेंगी। सभीमें अगर तुम सरीखी सद्बुद्धि होती तब तो बात ही क्या थी! और जब कि नहीं है, तब फिर अपने साधु संकल्पको जबरदस्ती भी नहीं चलाया जा सकता ; उसके लिए धीरज चाहिए। स्त्रियोंकी इच्छाके बिलकुल विपरीत दिशामें चलना चाहोगे तो बड़े-भारी संकटमें जा फँसोगे। इससे अच्छा है, उनसे कतराकर निकल जाना ; जरा घुमाव तो पड़ेगा, लेकिन सुविधानुसार कुछ नतीजा भी हाथ आयेगा। हवा जब उलटी चलती है तो जहाजका पाल आड़े रखा जाता है, नहीं तो चलना असम्भव हो जाता है। समझे भाई साहब!

मन्मथ—इसीसे शायद तुम गृहिणीकी सब बातोंमें हाँमें हाँ मिलाते जाते होगे। कायर हो तुम!

शशधर—तुम्हारे समान असीम साहस मुझमें नहीं है। जिसकी घर-गृहस्थीमें चौबीसो घंटे रहना पड़ता है उससे न डरूँ तो और किससे डरूँ? अपनी स्त्रीसे वीरता दिखानेमें फायदा क्या? चोट पहुंचाऊँ तो तकलीफ, चोट खाऊँ तो तकलीफ। इससे तो, मेरी रायसे, बहसमें गृहिणीके मतको सम्पूर्ण अकाट्य मानकर काममें अपना मत चलाना ही सबसे उत्कृष्ट मार्ग है। जिद की नहीं कि गिरे गड्ढेमें!

मन्मथ—जीवन अगर काफी लम्बा-चौड़ा होता तो धीरे-सुस्ते तुम्हारी तरह चला जा सकता था, आयु जो थोड़ी है!

शशधर—इसीलिए तो मैं कहता हूं, भाई साहब, कि विवेकसे काम लेना चाहिए। सामने पत्थर आ जानेपर जो आदमी घूमकर नहीं निकल जाता, छलाँग मारकर मार्गको संक्षिप्त करना चाहता है, देर उसीकी तक़दीरमें बदी होती है। लेकिन, तुमसे ये-सब बातें कहना फजूल है ; आये-दिन रोज ही तो ठोकर खाते रहते हो, फिर भी तुम्हारी आँखें नहीं खुलतीं, तब फिर मेरे उपदेश से क्या हो सकता है। तुम तो ऐसे चलना चाहते हो जैसे तुम्हारे स्त्री नामकी किसी शक्तिका अस्तित्व ही न हो। और, वे हैं, इसमें तुम्हें लेशमात्र भी सन्देह क्यों होना चाहिए, इसकी कोई वजह भी मैं नहीं देखता।

२

'दाम्पत्य कलहे चैव बह्वारम्भे लघुक्रिया' —शास्त्रोंमें ऐसा कहा गया है। किन्तु किसी-किस दम्पतिमें इसका व्यतिक्रम भी होता है, जानकर व्यक्ति इस बातको अस्वीकार नहीं करते।

मन्मथ बाबूके साथ उनकी स्त्रीका कभी-कभी जो वाद-प्रतिवाद हो जाया करता है वह जरूर कलह है, फिर भी, न तो उसका आरम्भ ही बहुत है और न उसकी क्रिया ही लघु है ; ठीक अजायुद्धके साथ उसकी तुलना नहीं की जा सकती। अनेक दृष्टान्तोंसे यह बात प्रमाणित की जा सकती है। एक नजीर यहाँकी यहीं दिये देता हूं।

मन्मथ बाबूने कहा—तुमने लड़केको जो विलायती पोशाक पहनाना शुरू कर दिया है, सो मुझे पसन्द नहीं।

विधुमुखीने जवाब दिया—पसन्द शायद तुम्हारी अकेलेकी ही होगी ! आजकल सभी लड़के तो अंग्रेजी पोशाक पहना करते हैं ।

मन्मथने कहा—सबके मतानुसार अगर चलना था तो सबको छोड़कर एकमात्र मुझ ही से ब्याह क्यों किया ?

विधुमुखी—तुम्हें अगर अपने ही मतसे चलना था, तो मुझसे ब्याह करनेकी क्या जरूरत थी ?

मन्मथ—अपना मत चलानेके लिए दूसरे आदमीकी जरूरत होती है इसलिए ।

विधु—अपना बोझ ढुलवानेके लिए धोबीको गधेकी जरूरत होती है, पर मैं तो—

मन्मथ (दाँतों-तले जीभ दबाकर)—अरे राम-राम-राम, तुम मेरी संसार-मरुभूमिकी अरबी घोड़ी हो। लेकिन प्राणी-शास्त्रकी बहस अभी रहने दो। अपने देशी लड़केको तुम विदेशी साहब मत बनाये डालो ।

विधु—क्यों नहीं बनाऊँ। उसे क्या किसान बना दूं ?

इतना कहकर विधुमुखी कमरेसे बाहर निकल गई ! और बगलके कमरेमें बैठी हुई विधुकी विधवा जिठानीने एक गहरी उसास लेते हुए समझा कि पति-पत्नीमें खूब प्रेमालाप हो गया ।

३

मन्मथ—अरे, यह लड़केके क्या लगा दिया है ?

विधु—बेहोश मत होओ, कोई खतरनाक चीज नहीं, जरा-सा एसेन्स लगा दिया है। सो भी बिलायती नहीं, देशी है देशी !

मन्मथ—मैंने तुमसे बार-बार कहा है कि लड़कोंको तुम ऐसी चीजें न दिया करो जिससे वे शौकीन बन जायँ।

विधु—अच्छी बात है, तुम्हें आराम मालूम हो तो कलसे मैं उसके किरासिन या अंडीका तेल लगा दिया करूँगी।

मन्मथ—वह भी फजूल-खर्च होगा। जिसके बगैर काम चल सकता है उसकी आदत न डालना ही अच्छा है। किरासिन या अंडीका तेल बदनसे लगाना मेरी रायसे अनावश्यक है।

विधु—तुम्हारी रायसे आवश्यक चीज दुनियामें कितनी हैं सो तो मैं जानती नहीं ; हाँ, इतना मैं जरूर जानती हूं कि उसके शुरूमें मेरा नाम जरूर आ जायगा।

मन्मथ—तुम्हें अगर निकाल दूँ तो मेरा तो वाद-प्रतिवादका सुख ही बिलकुल जाता रहेगा। इतने दिनकी आदत अचानक छोड़ देनेसे इस उमरमें टिक कैसे सकूंगा? खैर। मैं तुमसे पहलेसे ही कहे देता हूं, लड़केको तुम साहब बनाओ चाहे नवाब, या साहब-नवाबकी खिचड़ी पकाओ, कुछ भी करो, मैं उस खर्चके लिए एक पाई भी न दूँगा। मेरे मरनेके बाद उसे जो-कुछ मिलेगा उससे उसके शौकके खर्चकी पूर नहीं पड़ेगी, समझीं!

विधु—सो मुझे मालूम है। लड़केको तुम्हारे धनके भरोसे रखती तो मैं उसे कभीकी कोपीन पहनाना शुरू कर देती।

विधुमुखीके इस अवज्ञापूर्ण श्लेषसे गहरी चोट पहुंचनेपर भी मन्मथने तुरत अपनेको सम्हाल लिया, बोले—"मुझे भी मालूम है। तुम्हें अपने बहनोई शशधरका ही भरोसा है। उनके कोई सन्तान नहीं इसलिए तुम तय किये बैठी हो कि वे तुम्हारे ही

लालको सब-कुछ वसीयत कर जायेंगे। इसीलिए तो तुम उसे जब-है-तब फिरंगियों-सा सजाकर उनके घर भेज दिया करती हो, मौसाका प्यार छीननेके लिए। गरीबका पहनाव-उढ़ाव तो मैं बरदाश्त कर सकता हूं, पर अमीर रिश्तेदारसे लाड़-प्यारकी भीख माँगनेकी शर्म मुझसे कतई बरदाश्त नहीं होती।"

यह बात मन्मथके मनमें बहुत दिनोंसे घुमड़ रही थी, किन्तु जरा-कुछ कठोर होनेसे उसे वे मुंह खोलकर कह नहीं सके थे। विधुमुखी समझती थीं कि पति उनके मनके गूढ़ अभिप्रायको ठीकसे समझ नहीं पा रहे हैं; कारण वे इस बातको अच्छी तरह समझती हैं कि पुरुष-सम्प्रदाय स्त्रियोंके मनस्तत्त्वके सम्बन्धमें हद दरजेके मूर्ख होते हैं। लेकिन, अचानक यह जानकर कि मन्मथने उनकी चालको ताड़ लिया है, विधुमुखीको अत्यन्त चोट पहुंची। उनका चेहरा लाल-सुर्ख हो उठा, बोलीं—"लड़केको मौसीके घर भेजना भी बरदाश्त नहीं होता! हाय हाय, इतने बड़े मानीके घरमें हूं मैं, मुझे इसका पता ही न था।"

इतनेमें विधवा जिठानी चली आईं, उन्होंने कहा—"मझली बहू, धन्य है तुमलोगोंको। आज सत्रह साल हो गये, तब भी बातें नहीं खतम हुईं तुमलोगोंकी। रातसे भी पूर नहीं पड़ती, आखिर दिनमें भी दोनों मिलकर फुसफुस करते रहते हो। तुम लोगोंके जीभमें भगवान इतना मधु जुटाते कहांसे रहते हैं, मैं यही सोचा करती हूं। नाराज न होना लालाजी, तुमलोगोंके मधुरालापमें अडंगा डालने मैं नहीं आई; जरा दो मिनटके लिए मझली बहूसे बुनाईका एक फन्दा पूछने आई हूं।"

४

सतीश—ताईजी !

ताईजी—क्या बेटा ?

सतीश—आज भादुड़ी-साहबके लड़केको माने चाय पिलानेके लिए बुलाया है। तुम उसके सामने मत पहुंच जाना कहीं !

ताईजी—मुझे क्या जरूरत पड़ी है, सतीश।

सतीश—अगर जाओ भी, तो कमसे कम इन कपड़ोंसे मत जाना।

ताईजी—सतीश, तू बेचैन मत हो, मैं अपने इसी कमरेमें बनी रहूंगी। जब तक तेरा मित्र चाय पीकर चला न जायगा तब तक मैं बाहर ही नहीं निकलूंगी।

सतीश—ताईजी, मैं सोचता हूं, तुम्हारे इसी कमरेमें चायका इन्तजाम किया जाय तो अच्छा। इस घरमें ऐसी कोई निराली जगह ही नहीं जहाँ किसी भले-आदमीको चाय-पार्टी या डिनर दी जा सके। माके कमरेमें सन्दूक-वन्दूक ऐसे गँजे पड़े हैं कि किसीको वहाँ ले जानेमें शरम लगती है।

ताईजी—मेरे कमरेमें भी तो चीज-वस्त काफी है—

सतीज—आज-भरके लिए उठाकर और-कहीं रखवा दूँगा। खासकर तुम्हारी ये हँड़िया-डलिया वगैरह तो कहीं छिपा ही देना है।

ताईजी—क्यों बेटा, इनसे तुम्हें इतनी शर्म क्यों ? उनके घरमें क्या इन सबका चलन ही नहीं है ?

सतीश—सो मैं नहीं जानता। लेकिन चाय पीनेके कमरेमें

ऐसी चीजें रखनेका दस्तूर नहीं है। इन्हें देखकर भादुड़ी जरूर हँसेगा और घर जाकर अपनी बहनोंके सामने मेरी हँसी उड़ायेगा।

ताईजी—तेरी बातपर तो मुझे हँसी आती है। घर-गृहस्थीके कामकी चीज किसके घरमें नहीं होती! इसमें हँसी उड़ानेकी कौनसी बात है?

सतीश—एक काम तुम्हें और करना पड़ेगा; नन्दूको तुम अपने पास ही रखना, जैसे भी हो। वो मेरी बात नहीं मानेगा, उघड़े-बदन दन्न-से वहाँ पहुंच जायगा।

ताईजी—उसे तो मैं रोक लूंगी; पर तुम्हारे बापूजी जब उघड़े-बदन—

सतीश—इसके लिए मैं मौसीसे तय कर आया हूं; बापूजीको आज उन्होंने अपने यहाँ निमंत्रण दे रखा है, वे वहीं जायेंगे।

ताईजी—बेटा, तेरे मनमें आये सो करना; पर मेरे घरमें होटलका खाना-वाना—

सतीश—इसकी तुम जरा-भी फिकर न करो; मैं खूब अच्छी तरह सफाई करा दूंगा।

५

सतीश—मा, ऐसे कैसे चल सकता है!

विधु—क्यों, क्या हुआ?

सतीश—चाँदनीका रेडीमेड कोट-पैण्ट पहननेमें मुझे बड़ी शरम मालूम होती है। उस दिन भादुड़ी साहबके घर ईवनिंग पार्टी थी, दो-एक बाबुओंके सिवा सब ड्रेस सूट पहने हुए थे।

मैं वहाँ इन कपड़ोंसे जाकर मारे शरमके गड़-गड़ गया। बापूजी कपड़ोंके लिए जितने रुपये देना चाहते हैं उससे तो इज्जत बचाना मुश्किल है।

विधु—तुम तो जानते हो सतीश, वे एक बार जिस बातको पकड़ लेते हैं उसे कभी नहीं छोड़ते। खैर, मुझे बताओ, कितने रुपयोंसे तुम्हारी पोशाक मन-माफिक बन सकती है?

सतीश—एक मॉर्निंग-सूट और एक लाउञ्ज-सूटमें करीब सौ रुपये लगेंगे, और काम-चलाऊ ईवनिंग-सूटमें डेढ़ सौ समझ लो।

विधु—एँ! तीन सौ रुपये! इतने रुपये मैं कहाँसे—

सतीश—यही तो तुममें दोष है मा! दोमेंसे एक ही बात हो सकती है, या तो भद्र-समाजसे अलग फकीरोंकी तरह रहा जाय, या फिर ऊँची सोसाइटीमें रहना हो तो इज्जतके साथ रहा जाय। इज्जत रखनी हो तो रुपयोंकी तरफ देखनेसे काम नहीं चल सकता। सबसे अच्छा तो यह है कि सुन्दरवनमें भेज दो, वहाँ ड्रेस-कोट-फोटकी कुछ जरूरत ही नहीं।

विधु—सो तो सब समझती हूं, पर आवे कहाँसे? अच्छा, एक काम करो, तुम्हारे मौसाजी तो तुम्हें वर्षगाँठके दिन उपहार दिया ही करते हैं, अबकी बार उनसे निमंत्रणकी पोशाक वसूल कर लो न! अपनी मौसीसे जरा इशारा कर देना, वे सब ठीक करा देंगी।

सतीश—सो तो मैं सब चुटकियोंमें ठीक कर लूंगा। पर बापूजीको अगर मालूम पड़ गया कि मैंने मौसाजीसे माँगकर पोशाक वसूल की है, तो फिर खैर नहीं!

विधु—अच्छा, उन्हें मैं सम्हाल लूंगी।

सतीश चला गया। और विधुमुखी मन-ही-मन कहने लगीं, भादुड़ी साहबकी लड़कीसे अगर सतीशका किसी कदर ब्याहका जुगाड़ बैठ जाय, तो फिर कोई फिकरकी बात ही न रहे। भादुड़ी साहब बैरिस्टर आदमी ठहरे, काफी रोजगार करते हैं। सतीश छुटपनसे ही उनके घर जा-आ रहा है, लड़की ऐसी क्या पत्थरकी होगी जो मेरा सतीश उसके पसन्द न आये! सतीशके बाप तो ये सब बातें कभी सोचते ही नहीं। कहती हूं तो आग-बबूला हो उठते हैं। लड़केका भविष्य मैं अकेली कहाँ तक देखूँ।

६

मिस्टर भादुड़ीका मकान : टेनिस-कोर्ट।

नलिनी—यह क्या सतीश, कहाँ भाग चले?

सतीश—तुम्हारे यहाँ आज टेनिस-पार्टी है, मुझे मालूम नहीं था। मैं टेनिस-सूट पहनके नहीं आया।

नलिनी—सब बैलोंका तो एक-सा चमड़ा नहीं होता सतीश। तुम्हारी पोशाक आज आरिजनल ही सही। अच्छा, मैं तुम्हारे लिए कुछ सहूलियत किये देती हूं। – मिस्टर नन्दी, आपसे मेरा एक अनुरोध है।

नन्दी—अनुरोध क्यों, हुकुम कहिये हुकुम! मैं तो आप ही की सेवाके लिए हूं।

नलिनी—अगर आप बिलकुल ही असाध्य न समझें तो आज-भरके लिए आप सतीशको माफ कीजियेगा, आज ये टेनिस-सूट पहनके नहीं आये। इतनी बड़ी शोचनीय दुर्घटना है! फिर भी—

नन्दी—आप वकालत करें तो मैं खूनी और जालसाजको भी माफ कर सकता हूं, यह तो कोई बात ही नहीं। टेनिस-सूट न-पहन आनेसे अगर आपकी इतनी दया मिलती है, तो लीजिये मैं अपना टेनिस-सूट सतीशको दान किये देता हूं। सतीश, उतारो अपना सूट, इसे कौनसा सूट कहते हैं, खिचड़ी-सूट ही सही, मैं इस खिचड़ी-सूटको पहनके ही आया करूँगा। मेरी तरफ अगर स्वर्गके समस्त सूर्य-चन्द्र-तारे आँखें फाड़-फाड़कर देखते रहें, तो भी मैं लज्जित न होऊँगा। सतीश, अपने ये कपड़े दान करनेमें तुम्हें अगर कोई ऐतराज हो तो दरजीका पता मुझे बता दो, मैं वहींसे अपना इन्तजाम कर लूंगा। इस फैशनेबुल सूटसे मिस भादुड़ीकी कृपा कहीं ज्यादा बेशकीमती है!

नलिनी—सुनो, सुनो, सतीश, सुन रक्खो सब बातें। सिर्फ कपड़ोंकी फैशन ही नहीं, मीठी बातोंको फैशन भी तुम सीख सकते हो मिस्टर नन्दीसे। ऐसा आदर्श तुम्हें और-कहीं नहीं मिलेगा। विलायतमें ये ड्यूक और डचेजोंके सिवा और किसीसे बात ही नहीं करते थे। मिस्टर नन्दी, आपके समयमें वहाँ भारतीय छात्र और कौन-कौन थे?

नन्दी—मैं तो वहाँ नेटिव छात्रोंसे मिलता नहीं था।

नलिनी—सुन लिया, सतीश! बाकायदा सभ्य बननेके लिए कितनी सावधानीसे रहना पड़ता है, देखा। तुम कोशिश करो तो शायद सफल हो सकते हो। टेनिस-सूटके विषयमें तुम्हारा जैसा सूक्ष्म ज्ञान है उससे तो आशा होती है कि तुम सफल होगे।

[अन्यत्र गमन]

सतीशने एक गहरी साँस ली; और मन-ही-मन कहने लगा, नेलीको आज तक मैं समझ ही न पाया। मुझे देखकर शायद वह मन-ही-मन हँसा करती है। मेरी भी क्या परेशानी है कि मैं किसी भी तरह यहाँ स्वस्थ चित्तसे नहीं रह सकता; कभी लगता है कि टाई शायद कालरके ऊपर चढ़ गई है, कभी लगता है पैण्टमें घुटनेके पास भद्दी सिकुड़न आ गई है। नन्दीकी तरह कब मैं आजादीके साथ—

इतनेमें, नलिनी लौट आती है।

नलिनी—क्यों सतीश, मनकी दुविधा अभी तक मिटी नहीं? टेनिस-सूटके शोकमें हृदय विदीर्ण हुआ जा रहा है क्या? विरही हृदयको आज यहाँ कौन तसल्ली दे सकता है, सिवा दरजी-कम्पनीके!

सतीश—मेरे हृदयकी ही खबर अगर रखतीं तो तुम ऐसी बात हरगिज नहीं कहतीं, नेली!

नलिनी (तालियाँ बजाती हुई)—वाह वाह! इतनी जल्दी मीठी बातोंकी आमद शुरू हो गई! मिस्टर नन्दीका दृष्टान्त काम कर गया मालूम होता है। आशा करती हूं, दाद मिलनेसे बहुत जल्दी उन्नति करोगे। आओ, थोड़ा-सा 'केक' खा लो। मीठी बातोंका पुरस्कार है मिष्टान्न।

सतीश—नहीं, आज नहीं खाऊँगा, मेरी तबीयत—

नलिनी—मेरी बात भी सुनोगे! टेनिस-सूटके खेदमें तबीयत खराब करना ठीक नहीं; और खाना-पीना छोड़ना तो और भी बुरी बात है। 'सूट' दुनियाकी सर्वश्रेष्ठ चीज है, माना, लेकिन शरीर ठीक नहीं रखोगे तो उसे लटकाओगे कहाँ?

७

शशधर—देखो मन्मथ, सतीशपर तुमने बड़ा कड़ा शासन शुरू कर दिया है ; अब वह बड़ा होता जाता है, अब उसपर इतनी कड़ाई नहीं करनी चाहिए।

विधु—बताइये तो राय साहब ! मैं इन्हें बहुत समझाती हूं, पर समझते ही नहीं।

मन्मथ—दो-दो आरोप एकसाथ ! एक कहते हैं, 'निर्दय' और एक कहती हैं 'निर्बोध' ! जिनका हाथ पकड़कर बेवकूफ बना हुआ हूं वे जो-कुछ कहें, सहनेको राजी हूं ; और उनकी बहन जो कुछ कहें उसपर भी चुप रह सकता हूं ; लेकिन उनके बहनोई तक अपनी सहनशीलताको कैसे ढोऊं, बताइये ? मेरा शासन कैसा कड़ा है, जरा सुनूं भी तो ?

शशधर—बेचारे सतीशको जरा कपड़ोंका शौक है, उसने शिक्षितोंके घर जाना-आना शुरू किया है, उसे तुम चाँदनीके—

मन्मथ—मैं कब कहता हूं कि बाजारके सूट पहनो। पर फिरङ्गियोंकी-सी पोशाक मुझे देखे नहीं सुहाती। धोती-कुड़ता कोट पहना करे, उसमें कहीं भी शरमिन्दा नहीं होना पड़ेगा।

शशधर—देखो मन्मथ, सतीश अगर इस उमरमें अपना शौक न मिटा सका, तो बुढ़ापेमें जाकर कुछका कुछ कर बैठेगा ; और तब वह बहुत ही भद्दा लगेगा। दूसरे, तुम सोच देखो, जिसे हमने बचपन ही से सभ्यता समझना शुरू कर दिया है उसके हमलेको हम-तुम कैसे रोक सकते हैं ?

मन्मथ—जो सभ्य बनना चाहेगा वह सभ्यताका सरंजाम

खुद अपने खर्चेसे जुटायेगा। जिधरसे तुम्हारी सभ्यता आ रही है, रुपया उधरसे नहीं आ रहा है न! बल्कि उलटा इधरसे उधर ही को जा रहा है।

विधु—जीजाजी, आप इनसे बातोंमें नहीं जीतेंगे। देशकी बात छिड़ जानेपर फिर ये किसीके रोके नहीं रुकेंगे।

शशधर—भाई मन्मथ, ये सब बातें मैं भी समझता हूं। लेकिन बाल-हठ भी तो कोई चीज है। उससे कतराकर हम कैसे निकल सकते हैं? सतीश भादुड़ी-साहबके घर जाता-आता है, उसके लायक पोशाक न होनेसे उसकी परेशानीका भी तो खयाल करो तुम! मैंने रेनकिनके यहाँ उसके लिए—

[नौकरका प्रवेश]

नौकर—साहब-कम्पनीसे ये कपड़े आये हैं।

मन्मथ—जा, ले जा यहाँसे, ले जा। अभी तुरत ले जा। (विधुमुखीसे) हाँ, तुम भी सुन लो, अगर मैंने ये कपड़े सतीशको पहनते देखा, तो उसे मैं घरमें नहीं रहने दूंगा; होस्टलमें भेज दूंगा। वहाँ जो जी चाहे सो करे। [तेजीसे प्रस्थान]

शशधर—कुछ समझमें नहीं आया!

विधु (रोती हुई)—क्या बताऊं जीजाजी, मेरी तो जिन्दगी ही अकारथ गई। क्या सुख देखा मैंने अपनी जिन्दगीमें। अपने लड़केपर बापका ऐसा बरताव किसीने देखा है कहीं?

शशधर—मेरे प्रति भी तो बरताव अच्छा नहीं हुआ। मुझे तो लगता है उनका हाजमा खराब है। मेरी सलाह सुनो, तुम रोज उन्हें एक ही तरहका दाल-भात न खिलाया करो। जैसे भी

हो, तुम उन्हें मसालेदार रसोई खिलाया करो; रुचिकर भी होगा और हजमा भी ठीक रहेगा। कुछ दिन तुम उन्हें अच्छी तरह खिलाओ-पिलाओ, फिर देखना, तुम जो कहोगी सो मानने लगेंगे। इस विषयमें तुम्हारी बहन खूब समझदार हैं।

[शशधरका प्रस्थान, विधुमुखीका क्रन्दन, और विधवा जिठानीका प्रवेश]

विधवा जिठानी—कभी रोना, और कभी हंसना! नखरे देख-देखके हँसी आती है। (गहरी साँस लेकर) मझली बहू, रूठ गई क्या! लालाजीको बुलाना पड़ेगा क्या मन-भंजनके लिए?

८

नलिनी—सतीश, मैंने तुम्हें क्यों बुलाया है, सुनो। नाराज न होना।

सतीश—तुमने बुलाया है, और मैं नाराज होऊं! मैं क्या इतना बदमिजाज हूं?

नलिनी—नहीं नहीं, ये सब बातें रहने दो। हरवक्त नन्दी साहबकी नकल न किया करो। अच्छा, बताओ तो सही, मेरी वर्षगाँठके दिन तुमने इतनी बेशकीमती चीज क्यों दी?

सतीश—जिन्हें दी है उनके मुकाबिले चीजकी कीमत ऐसी क्या ज्यादा है?

नलिनी—फिर वही नन्दीकी नकल!

सतीश—नन्दीकी नकल क्या यों ही करता हूं! उनके प्रति जब व्यक्ति-विशेषका खास पक्षपात देखता हूं—

नलिनी—तो जाओ, तुमसे मैं बात न करूंगी।

सतीश—अच्छा, मुझे माफ करो, मैं चुपचाप सुनूंगा।

नलिनी—देखो सतीश, मिस्टर नन्दीने मुझे बेवकूफकी तरह एक कीमती ब्रेसलेट भेजा था ; और तुमने भी उनकी होड़ करके उससे भी कीमती एक नेकलस भेज दिया, क्यों ?

सतीश—जिस हालतमें आदमी विवेक खो बैठता है, उस हालतको तुम जानती ही नहीं, नेली, इसीलिए तुम नाराज हो रही हो।

नलिनी—जाननेकी जरूरत नहीं मुझे। लेकिन, नेकलस तुम्हें वापस लेना पड़ेगा।

सतीश—लौटा दोगी ?

नलिनी—हाँ, लौटा दूंगी। जो दान बहादुरी दिखानेके लिए दिया गया हो, मेरे लिए उसकी कोई भी कीमत नहीं।

सतीश—यह तुम अन्याय कर रही हो, नेला !

नलिनी—मैं जरा भी अन्याय नहीं कर रही। तुम अगर मुझे एक फूल लाकर देते, तो मैं बहुत खुश होती। इधर कुछ दिनों से मैं देख रही हूं, तुम जब-है-तब मेरे लिए कोई-न-कोई कीमती चीज भेज दिया करते हो। तुम्हारे मनको ठेस न पहुंचे इस खयालसे अब तक मैंने तुमसे कहा नहीं। लेकिन, जब देखा कि क्रमशः मात्रा बढ़ती ही जाती है तो मेरे लिए चुप रहना असम्भव हो गया। यह लो अपना नेकलेस।

सतीश—इसे तुम जहां जी-चाहे फेंक दो, मैं हरगिज नहीं लूंगा।

नलिनी—अच्छा सतीश, मैं तो तुम्हें बचपनसे जानती हूं,

मुझसे कुछ छिपाना मत। सच-सच कहना, तुम क्या बहुत ज्यादा कर्जदार नहीं हो गये?

सतीश—किसने कहा तुमसे, शायद नरेनने?

नलिनी—किसीने नहीं कहा। मैं तुम्हारा चेहरा देखकर समझ सकती हूं। मेरे लिए तुम ऐसा अन्याय क्यों करते हो?

सतीश—खास समय और खास आदमीके लिए आदमी प्राण भी दे सकता है। आजकलके जमानेमें प्राण देनेका मौका मुश्किलसे हाथ आता है; और नहीं भी आता। ऐसी हालतमें, कमसे कम कर्जदारीका दुःख उठानेमें जो सुख है वह भी क्या न भोगने दोगी मुझे? मेरे लिए जो दुःसाध्य है, तुम्हारे लिए मैं वही करना चाहता हूं नेली, इसे भी तुम अगर नन्दीकी नकल बताओ तो मेरे लिए वह वेदनादायक ही होगा।

नलिनी—अच्छा, तुम्हें जो-कुछ करना था सो कर चुके। तुम्हारे उस त्यागको मैं मंजूर किये लेती हूं। अब इस चीजको वापस ले लो।

सतीश—अगर मुझे यह वापस लेना पड़े, तो इस नेकलेससे गलेमें फांसी लगाकर दम घोंटकर मर जाना ही मेरे लिए अच्छा है।

नलिनी—अपना कर्ज तुम कैसे चुकाओगे?

सतीश—मासे रुपये मिल जायंगे मुझे।

नलिनी—छि छि, वे क्या सोचेंगी अपने मनमें; यही न कि मेरे लिए ही उनका लड़का कर्जदार हो रहा है!

सतीश—ऐसा वे कभी नहीं सोच सकतीं, अपने लड़केको वे बहुत दिनोंसे जानती हैं।

नलिनी—अच्छा खैर, कुछ भी हो, अब तुम्हें प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी कि अबसे मुझे कोई कीमती चीज नहीं दोगे। ज्यादासे ज्यादा फूलोंका गुच्छा दे सकते हो, और कुछ नहीं।

सतीश—अच्छा, मैं प्रतिज्ञा करता हूं।

नलिनी—अब मैं तुम्हें माफ करती हूं, अब तुम अपने गुरु नन्दी साहबका पाठ दुहरा सकते हो। देखूँ, स्तुतिवाद करनेकी विद्या तुम्हारी कहां तक अग्रसर हुई है। अच्छा, मेरे कानोंकी लोलकियांपर तुम क्या कह सकते हो, कहो तो? मैं तुम्हें पांच मिनटका समय देती हूं।

सतीश—जो कुछ कहूंगा उससे तुम्हारी ये लोलकियां सुर्ख हो उठेंगी।

नलिनी—खूब, खूब! भूमिका बुरी नहीं हुई। बस, आज इतना ही रहने दो, बाकीका और-किसी दिन कहना। इतनेसे ही मेरे कान सुर्ख हो उठे हैं।

६

विधुमुखी—मेरे ऊपर नाराज होओ, तुम्हारे जो मनमें आये सो करो, पर लड़केपर गुस्सा मत होओ। तुम्हारे पैरों पड़ती हूं, अबकी बार उसका कर्ज चुका दो।

मन्मथ—मैं नाराज नहीं हो रहा, पर मेरा जो कर्तव्य है सो तो मुझे करना ही पड़ेगा। सतीशसे मैंने बार-बार कह दिया है, वह कर्ज करेगा तो मैं उसका कर्ज हरगिज नहीं चुकाऊँगा। मेरी उस बातमें जरा भी फर्क नहीं होगा।

विधु—माना मैंने, लेकिन सत्यधारी युधिष्ठिर बननेसे गृहस्थी

नहीं चल सकती। सतीश अब बड़ा हो गया है, उसे जितना तुम जेब-खर्च देते हो उससे उसका कैसे निबाह हो सकता है, तुम्हीं बताओ ?

मन्मथ—जिसकी जितनी औकात है उससे ज्यादा बढ़-बढ़के चलनेसे किसीका भी निबाह नहीं हो सकता ; न फकीरका, न बादशाहका।

विधु—तो क्या लड़केको जेल जाना पड़ेगा ?

मन्मथ—उसने अगर उसीकी तैयारी कर रखी हो, और तुम अगर उसकी मदद करती रहो, तो मैं उसे कैसे रोक सकता हूं बताओ ?

[मन्मथका प्रस्थान : और शशधरका प्रवेश]

शशधर—मुझे इस घरमें देखते हैं तो मन्मथ डर जाते हैं। सोचते हैं, काले कोटकी फरमाइशके लिए फीता हाथमें लेकर मैं उनके लड़केका माप लेने आया हूं। इसीसे इधर कई दिनोंसे नहीं आया। आज तुम्हारी चिट्ठी पाकर सुकूने रो-रोकर मुझे घरसे निकाला है।

विधु—जीजी नहीं आईं ?

शशधर—अब आती ही होंगी। बात क्या है ?

विधु—सुन तो लिया ही होगा सब। अब लड़केको जेल बगैर भेजे उन्हें चैन नहीं मिल रहा है। रैनकिन हारमनके कपड़े उन्हें पसन्द नहीं आये, जेलखानेके कपड़े ही शायद उनकी रायसे ज्यादा अच्छे हैं।

शशधर—और चाहे तुम जो भी काम बताओ, करनेको

तैयार हूं, पर मन्मथको समझाना मेरे बूतेसे बाहरकी बात है। उनकी बातें मेरी समझमें नहीं आतीं, और मेरी बात भी वे नहीं समझते, अन्तमें—

विधु—सो क्या मैं नहीं जानती। तुमलोग तो उनकी स्त्री नहीं हो जो सिर झुकाये सब सह लोगे। लेकिन, इस संकटसे—

शशधर—तुम्हारे हाथमें क्या कुछ भी—

विधु—कुछ भी नहीं बचा। सतीशके कर्ज चुकानेमें मेरे सब गहने गिरवी चले गये हैं, हाथोंमें सिर्फ दो-दो कड़े बचे हैं।

[सतीशका प्रवेश]

शशधर—क्या सतीश, खर्च करते वक्त आगे-पीछेका कुछ विचार ही नहीं किया ? अब कैसी मुसीबतमें हो, जरा सोचो तो सही !

सतीश—मुसीबत क्या है !

शशधर—तो हाथमें कुछ रुपये हैं मालूम होता है। भेद नहीं खोला है, क्यों ?

सतीश—कुछ तो है ही।

शशधर—कितने ?

सतीश—अफीम खरीदने लायक।

विधु (रोती हुई)—सतीश, यह कैसी बात कर रहा तू ! मैंने बड़े दुःख सहे हैं, अब तू मुझे मत जला।

शशधर—छिः सतीश। ऐसी बात कभी मनमें आये भी तो क्या माके सामने कही जाती है ? बड़ी बेजा बात है।

[सुकुमारीका प्रवेश]

विधु—जीजी, सतीशको बचाओ। भगवान जानें, यह किस दिन क्या कर बैठेगा! सोचते ही मेरा तो जी उड़ जाता है। सुना तुमने, क्या कह रहा था?

सुकुमारी—क्या?

विधु—कहता है, अफीम खरीद लायेगा!

सुकुमारी—हे भगवान! सतीश, मेरी देह छूकर प्रतिज्ञा कर, ऐसी बात कभी मनमें भी न लायेगा। कर। चुप कैसे खड़ा है। राजा-बेटा है न मेरा। अपनी मौसीका कहना नहीं मानेगा?

सतीश—जेल जानेसे तो यही अच्छा है कि उसके बाहर ही सब-कुछ निबटाकर काम खतम कर दूं।

सुकुमारी—हमारे रहते तुझे जेल कौन ले जायेगा?

सतीश—सिपाही।

सुकुमारी—अच्छा, मैं देख लूँगी वो कितना बड़ा सिपाही है। (पतिसे) अजी सुनते हो, रुपये निकालकर पटक क्यों नहीं देते, बच्चेको क्यों तकलीफ दे रहे हो?

शशधर—रुपये निकालकर तो पटक सकता हूं, पर मन्मथ मेरे सरपर ईंट उठाकर पटकेंगे तब कौन बचायेगा?

सतीश—मौसाजी, वो ईंट तुम्हारे सिर तक न पहुंचेगी, मेरे सिरपर ही पड़ेगी। एक तो परीक्षांमें फेल हुआ हूं, दूसरे, सरपर कर्ज, उसपर जेल जानेका इतना अच्छा मौका अगर हाथसे निकल गया, तो बापूजी मुझे हरगिज माफ न करेंगे।

विधु—सच है, जीजी। उन्हें कहीं यह मालूम हो गया कि

सतीशने मौसाजीसे रुपये लिये हैं तो वे इसे घरसे निकालकर ही दम लेंगे।

सुकुमारी—सो लेने दो। और क्या कहीं इसके लिए जगह ही नहीं समझती हो! विधु, सतीशको तू मुझे क्यों नहीं दे देती? मेरे तो कोई लड़का-बाला है नहीं, मेरे ही पास बना रहेगा तो क्या है। (पतिसे) क्यों जी, ठीक है न?

शशधर—सो तो ठीक है। पर, सतीश जिस शेरका बच्चा है, इसे खींचोगी तो उस शेरसे प्राण बचाना मुश्किल हो जायगा।

सुकुमारी—शेर-शाहबने तो बच्चेको जेलके सिपाहीके हाथ सौंप ही दिया है, हम अगर उसे बचाके ले जायँ तो वे क्या कह सकते हैं।

शशधर—शेरनीकी क्या राय है? और बच्चेसे भी पूछ लो, क्या कहता है?

सुकुमारी—जो-कुछ कहता है, सो मुझे मालूम है। किसीसे कुछ पूछनेकी जरूरत नहीं। तुम अब जल्दीसे कर्ज चुका दो।

विधु—जीजी!

सुकुमारी—अब 'जीजी-जीजी' करके रोनेकी जरूरत नहीं। चल, तेरे मैं बाल बाँध दूं। ऐसी शकल बना रखी है, अपने जीजाजीके सामने तुझे शरम नहीं मालूम होती?

[शशधरके सिवा और-सबका प्रस्थान : और मन्मथका प्रवेश]

शशधर—मन्मथ, भई तुम जरा विचार कर देखो—

मन्मथ—बिना विचारे तो मैं कुछ करता ही नहीं।

शशधर—तो तुम्हें कसम है मेरी, विचारको जरा संकुचित

कर डालो। लड़केको क्या जेल ही भेजना है? इससे क्या उसकी कोई भलाई होगी?

मन्मथ—भलाई-बुराईकी बात आखिर तक कोई भी तय नहीं कर सकता। मैं तो मोटी तौरपर इतना ही समझता हूं कि बार-बार सावधान किये जानेपर भी अगर कोई अन्याय करता है तो उसकी सजा उसे भुगतनी ही पड़ती है। कृत्रिम उपायसे उस सजासे किसीको बचाना उचित नहीं। मेरा तो खयाल है कि हमलोग अगर बीचमें पड़कर प्रकृतिका गला घोंटना छोड़ दें तो प्रकृति अपनी कठोर शिक्षासे जरूर आदमीको यथार्थ आदमी बना सकती है।

शशधर—और मेरा खयाल यह है कि प्रकृतिकी कठोर शिक्षा ही अगर एकमात्र शिक्षा होती तो विधाता मा-बापके मनमें स्नेह जैसी चीज हरगिज नहीं देते। सुनो, तुम जो रात-दिन 'कर्मफल कर्मफल' किया करते हो, उसे मैं सम्पूर्णतया नहीं मानता। प्रकृति हमसे कर्मफल पाई-पाई वसूल कर लेना चाहती है, किन्तु प्रकृतिके ऊपर जो प्रधान मालिक हैं वे बीचमें पड़कर बहुत-कुछ माफ कर दिया करते हैं; नहीं तो 'कर्मफल' का कर्ज चुकाते-चुकाते हमारा अस्तित्व तक बिक जाता। विज्ञानके हिसाबसे कर्मफल सच है, किन्तु विज्ञानके ऊपर भी एक विज्ञान है, जहाँ प्रेमके हिसाबसे फलाफल सब बदल जाता है। कर्मफल नैसर्गिक है, और क्षमा उसके ऊपरकी बात है।

मन्मथ—जो अनैसर्गिक आदमी हैं वे जो चाहें सो कर सकते हैं; मैं अत्यन्त साधारण नैसर्गिक हूं, मैं कर्मफलको आखीर तक मानता हूं।

शशधर—अच्छा, मैं अगर सतीशका कर्ज चुकाकर उसे जेलसे बचा लूँ, तो तुम क्या करोगे ?

मन्मथ—मैं उसे त्याग दूंगा। देखो, सतीशको मैंने जिस ढंगसे आदमी बनाना चाहा था, शुरूसे ही बाधा दे-देकर तुम लोगोंने उसे व्यर्थ कर दिया है। एक तरफसे संयम और दूसरी तरफसे छूटपट्टी मिलती रहनेसे वह बिलकुल ही बिगड़ चुका है। लगातार मनमानी भीख पा-पाकर अगर उसका आत्माभिमान और दायित्वज्ञान नष्ट हो जाय, और 'जैसी करनी वैसी भरनी' इस बातको अगर तुमलोग उसे किसी भी तरह न समझने दो, तो मैं उसकी आशा बिलकुल ही छोड़े देता हूं। तुमलोग अपने मतानुसार ही उसे आदमी बनाओ। दो नावमें पाँव रखनेसे ही उसे संकटका सामना करना पड़ रहा है।

शशधर—यह कैसी बातें कर रहे हो तुम, आखिर वह तुम्हारा ही लड़का है।

मन्मथ—देखो शशधर, अपनी प्रकृति और अपने विश्वासके अनुसार ही मैं अपने लड़केको आदमी बना सकता हूं; और कोई उपाय तो मैं जानता नहीं। जब कि मैं निश्चित देख रहा हूं कि वैसा किसी भी तरह हो नहीं सकता, तो फिर पिताकी जिम्मेदारी मैं नहीं रख सकता। मेरी जितनी सामर्थ्य है उससे ज्यादा मैं कुछ नहीं कर सकता। [मन्मथका प्रस्थान]

शशधर—क्या किया जाय। लड़केको तो जेल नहीं भेजा जा सकता। कसूर आदमीका चाहे कितना ही बुरा हो, जेलखाना उससे भी बुरा है।

१०

भादुड़ी-पत्नी—सुना तुमने ? सतीशके पिताका अचानक देहान्त हो गया !

मिस्टर भादुड़ी—हाँ, सो तो सुना है।

पत्नी—वे अपनी सारी सम्पत्ति अस्पतालके लिए दान कर गये हैं, सतीशकी माके लिए सिर्फ पचहत्तर रुपया महीनेका इन्तजाम कर गये हैं। अब क्या किया जाय ?

भादुड़ी—तुम्हें इतनी फिकर क्यों है ?

पत्नी—तुम भी खूब हो ! तुम्हारी लड़की जो सतीशको चाहती है, सो क्या तुम्हें मालूम ही नहीं ! तुम तो दोनोंके ब्याहके लिए भी राजी थे। अब क्या होगा ?

भादुड़ी—मैं कोई मन्मथके रुपयोंके भरोसे थोड़े ही था।

पत्नी—तो क्या लड़केके चेहरेपर ही भरोसा करके बैठे थे ? अन्न-वस्त्रकी शायद कोई जरूरत ही नहीं !

भादुड़ी—बहुत ज्यादा जरूरत है। कोई कुछ भी कहे, उससे ज्यादा जरूरी तो और-कुछ है ही नहीं। सतीशके एक मौसा हैं, शायद मालूम होगा तुम्हें ?

पत्नी—मौसा तो बहुतोंके हुआ करते हैं, उससे भूख थोड़े ही मिट जाती है।

भादुड़ी—उसका मौसा मेरा मुवक्किल है। खूब पैसेवाला है, उसके कोई लड़का नहीं, उमर भी बहुत हो चुकी है। वह तो सतीशको ही गोद लेना चाहता है।

पत्नी—मौसा तो अच्छा है। गोद ले लेना है तो चटपट क्यों नहीं लेता। तुम जरा कोशिश करो, सो जल्दी ले ले।

भादुड़ी—मेरी कोशिशकी जरूरत नहीं, उनके घर ही में कोशिश करनेवाली मौजूद है। सब-कुछ तय है, सिर्फ कानूनका जरा खटका है, इकलौते बेटेको गोद लिया जा सकता है या नहीं; इसके सिवा सतीशकी उमर भी हो चुकी है।

पत्नी—कानून तो तुम्हीं लोगोंके हाथमें है। आँख मींचकर कोई विधान दे क्यों नहीं देते।

भादुड़ी—उतावली क्यों होती हो, गोद न भी लिया जाय तो दूसरा रास्ता सही।

पत्नी—खैर, चिन्ता मिटी। मैं सोच रही थी कि इतने दिनों बाद अब संबंध तोड़ा कैसे जाय? और फिर अपनी नेली ऐसी जिद्दिन ठहरी कि क्या करते क्या कर बैठे, कोई ठीक नहीं। पर, इस तरह गरीबके हाथ भी तो लड़की नहीं सौंपी जा सकती। वो देखो, तुम्हारी लड़कीने रो-रोकर आँखोंका क्या हाल कर डाला है। कल खाते वक्त सतीशके बापकी खबर सुनते ही थाली छोड़कर उठके चल दी।

भादुड़ी—लेकिन, देखनेसे तो ऐसा नहीं जान पड़ता कि नेली सतीशको प्यार करती है। वो तो सतीशको हमेशा परेशान ही करती रहती है, बल्कि मुझे तो ऐसा लगता है कि नन्दीकी तरफ ही उसका ज्यादा झुकाव है।

पत्नी—तुम्हारी लड़कीका स्वभाव ही ऐसा है। जिससे प्यार करेगी उसीको परेशान करती रहेगी। देखो न, बिल्लीके बच्चेका

क्या हाल किया करती है। लेकिन, ताज्जुब तो इस बातका है कि इतना सब-कुछ होते हुए भी तो कोई उसे छोड़ना नहीं चाहता।

[नलिनीका प्रवेश]

नलिनी—मा, एक बार सतीश बाबूके घर नहीं चलोगी? उनकी मा बहुत ज्यादा शोकमें होंगी। — बापूजी, मैं एक बार उनके घर जाना चाहती हूं।

११

सतीश—मा, यहाँ मैं कितने सुखमें हूं सो तो मेरे कपड़े-लत्ते देखकर ही समझा जा सकता है। लेकिन, मौसाजी जब तक मुझे गोद नहीं ले लेते तब तक निश्चिन्त भी तो नहीं हुआ जा सकता। तुम्हें जितना मिलता है उससे तो मेरा कुछ भी नहीं हो सकता। बहुत दिनोंसे गोद लेनेकी बात चल रही है, पर लेते तो नहीं हैं! शायद उनके मनमें अब लड़का होनेकी उम्मीद हो चली है!

विधु (हताशा स्वरमें)—उनकी उम्मीद शायद पूरी होनेको ही है।

सतीश—एं, तुम क्या कह रही हो, मा!

विधु—लक्षणोंसे तो ऐसा ही मालूम होता है।

सतीश—लक्षण तो आखिर अन्दाजा ही है, गलत भी तो हो सकता है?

विधु—नहीं, गलत नहीं, बेटा, अबकी तेरे भाई ही होगा।

सतीश—क्या तो तुम कहती हो मा, जिसका ठीक नहीं! भाई ही होगा, यह कैसे कहा जा सकता है। बहन भी तो हो सकती है।

विधु—जीजीका चेहरा देखकर तो सोलहो-आना निश्चय होता

है कि लड़का ही होगा। इसके सिवा, चाहे लड़का हो या लड़की, हमारे लिए तो दोनों ही समान हैं।

सतीश—इतनी उमरमें पहले-पहल बच्चा होगा, इस बीचमें बहुतसे विघ्न भी तो आ सकते हैं।

विधु—सतीश, तू नौकरीकी तलाश कर।

सतीश—बिलकुल असंभव बात है। परीक्षा भी पास नहीं कर सका। इसके सिवा, नौकरी करनेका मिजाज ही नहीं मेरा, मुझसे नौकरी होना असंभव है मा! लेकिन, मैं कहता हूं, यह तो बड़ा-भारी अन्याय है मेरे साथ। आखिर उनके भरोसे न रहता तो अपने पिताकी सम्पत्ति तो मुझे मिलती ही। उससे भी वंचित रहा, और अब जाकर—

विधु—अन्याय तो है ही। एक तरफ तुझे घरमें बुलाकर रखा और दूसरी तरफ डाक्टर-वैद्योंकी दवा भी चालू रक्खी! आखिर दयाल डाक्टरकी दवा काम कर गई। तू चिन्ता मत कर, एकाग्रचित्तसे भगवानको पुकार, सबसे बड़े डाक्टर वे ही हैं। वे चाहेंगे तो—

सतीश—अहा, वे अगर चाहें! अब भी कुछ नहीं बिगड़ा। मा, इन लोगोंके प्रति हमें कृतज्ञ रहना चाहिए, लेकिन अब ऐसा अन्याय हो रहा है कि कृतज्ञता रखना मुश्किल है। ईश्वरसे अब ऐसी प्रार्थना किये बगैर रहा नहीं जाता, क्या किया जाय, उनकी दया होगी तो—

विधु—भगवानकी दया होगी तो ऐसा ही होगा, बेटा, नहीं तो तेरा क्या होगा, मुझे यही सोच है। एक भगवानका ही आसरा है।

सतीश—अगर ऐसा नहीं, हुआ तो भगवानको मैं नहीं मानूंगा। अखबारोंमें नास्तिकताका प्रचार करूंगा।

विधु—अरे, चुप रह तू, बकवास मत कर। ऐसी बात मुंहसे निकलना पाप है। भगवान दयामय हैं, उनकी दयासे क्या नहीं हो सकता। — और क्यों रे, आज तू इतना सजधजकर कहाँ जा रहा है? ऊँचा कालर लगाकर ऊँटकी-सी गरदन उचकाकर यह क्या स्वाँग बनाया है तैंने? गरदन कैसे झुकायेगा?

सतीश—इसी तरह कालरके जोरसे गरदन ऊँची करके जब तक चल सकूंगा, चलूँगा। उसके बाद गरदन झुकानेके जब दिन आ जायेंगे तब इन्हें फेंककर अलग करूंगा। आज जरा एक खास काम है मा, चल दिया, पीछे बात करूंगा। [प्रस्थान]

विधु—काम कहाँ है सो मैं जानती हूं। हाय भगवान, लड़केको अब जरा भी सबर नहीं। मैं जानती हूं, मेरे सतीशकी तकदीर खराब नहीं हो सकती। शुरूमें चाहे जितने भी विघ्न आयें, अन्तमें भला ही होगा; मैं बराबर देखती आई हूं। और होगा क्यों नहीं; मैंने तो अपनी जानमें कोई पाप नहीं किया। मैं बराबर सती स्त्री रही हूं, इसलिए जीजीके अबकी जरूर—

१२

सुकुमारी—सतीश!

सतीश—क्या मौसीजी?

सुकुमारी—कल मैंने तुमसे लड़केके लिए बाजारसे कपड़े ले आनेको इतना-इतना कहा, फिर भी तुम नहीं गये! क्यों, इसमें अपनी बेइज्जती समझी क्या?

सतीश—इसमें बेइज्जती किस बातकी, मौसीजी ! कल भादुड़ी साहबके यहाँ मेरा निमंत्रण था, इसीसे—

सुकुमारी—भादुड़ी साहबके यहाँ तुम्हें इस तरह बार-बार जानेकी क्या जरूरत, मेरी तो कुछ समझ ही में नहीं आता ? वे साहब आदमी ठहरे, तुम जैसे मामूली हैसियतके लोगोंके लिए उनकी बराबरी करना क्या अच्छा लगता है ? मैंने तो सुना है, आजकल तुम्हें वहाँ कोई पूछता भी नहीं। फिर भी, रंगीन टाईपर टाइरिंग चढ़ाकर विलायती दूल्हा बनके वहाँ जानेमें तुम्हें शर्म नहीं आती ! तुम्हें अपनी इज्जतका इतना भी ख्याल नहीं ? अरे, खयाल ही होता तो क्या काम-धन्धेकी कुछ कोशिश न करके यहाँ इस तरह पड़े रहते ! उसपर तुर्रा यह कि किसी कामकी कही जाय तो नाखुश होते हो, कहीं कोई नौकर न समझ ले ! लेकिन, नौकर भी तुमसे अच्छा, कमसे कम मजदूरी करके पेट भरता है।

सतीश—मौसीजी, मैं भी वैसा कर सकता था, तुम्हीने—

सुकुमारी—क्यों नहीं ! मैं तो जानती थी, आखिर मुझे ही दोष दोगे। अब मैंने समझा, तुम्हारे बापने तुम्हें ठीक समझा था। इसीसे तुमपर वे ऐसी कड़ाई किया करते थे। मैंने तो उलटे बच्चा समझकर तुम्हें अपने घरमें जगह दी, जेलसे बचाया; उसका नतीजा यह हुआ कि हम ही दोषी ठहरे ! इसीको कहते हैं कृतज्ञता ! अच्छा खैर, मेरा ही दोष सही, फिर भी, जब कि तुम हमारा अन्न खा रहे हो, तो जरूरत पड़नेपर दो-एक काम कर दिया तो उसमें ऐसानकी क्या बात है ? ऐसा क्या कोई करता नहीं; इसमें भी तुम्हें अपमान मालूम होता है ?

सतीश—जरा भी नहीं, क्या काम करनेको कहती हो कहो, मैं अभी किये देता हूं।

सुकुमारी—लल्लाके लिए साढ़े-सात गज रेनबो-सिल्क चाहिए, और एक सेलर-सूट। (सतीश जाना चाहता है) सुनो-सुनो, उसके लिए जूते भी लेते आना, माप लेते जाओ। (सतीश फिर जानेको तैयार होता है) अरे, इतनी जल्दी काहेकी है, पूरी बात तो समझ लो अच्छी तरह। आज भी भादुड़ी साहबके यहाँ रोटी-बिस्कुट खानेको जी फड़फड़ा रहा है क्या? लल्लाके लिए एक स्ट्रॉ-हैट ले आना, और एक दर्जन रूमाल। (सतीश चला जाता है, फिर उसे वापस बुलाकर) सुनो सतीश, और-एक बात तुमसे कहनी है। मैंने सुना है कि तुमने अपने मौसाजीसे नया सूट खरीदनेके लिए, मुझसे बिना कहे ही, रुपये लिये हैं। जब तुम खुद कमाने लगो तब तुम्हारे जीमें आये उतनी साहबी करते फिरना, लेकिन पराये पैसेपर भादुड़ी साहबके यहाँ नवाबी दिखानेके लिए अपने मौसाको बरबाद न करो। वे रुपये मुझे वापस कर देना। आजकल हमारा हाथ बहुत तंग है।

सतीश—अच्छा, मैं लाये देता हूं।

सुकुमारी—अभी तुम बाजार जाओ, उन रुपयोंसे जो बताया है सो खरीद लाना, और जो-कुछ बाकी बचे सो दे देना। सबका हिसाब रखना, समझे! (सतीश जाना चाहता है, उसे टोककर) सुनो सतीश, इन थोड़ी-सी चीजोंके लिए कहीं ढाई रुपये गाड़ीका किराया न लगा देना। इसीलिए तुमसे कोई चीज मंगानेमें डर लगता है। दो कदम पैदल चलनेमें तुम्हारा सिर दुखने लगता

है, मरदोंका इतना रईस बनना ठीक नहीं। तुम्हारे बाप रोज सवेरे खुद जाकर बाजारसे साग-भाजी लाया करते थे, याद है! कुली-मजूरको उन्होंने कभी एक पैसा नहीं दिया।

सतीश—तुम्हारा उपदेश याद रहेगा, अब मैं भी नहीं दूंगा। आजसे मैं हमेशा इस बातका ध्यान रखूंगा; जहाँ तक बस चलेगा, तुम्हारे यहाँ कुली-मजूर और नौकर-चाकरका खर्चा जितना घट सके, घटानेकी कोशिश करूँगा।

१३

हरेन्द्र—भाई सा'ब, तुम बहुत देरसे यह क्या लिख रहे हो, किसे लिख रहे हो, बताओ न?

सतीश—जा जा, तुझे इन बातोंसे क्या, तू खेल जाकर।

हरेन्द्र—देखूं न, क्या लिखते हो। अब मुझे पढ़ना आ गया है, हाँ!

सतीश—देख हरेन, तू मुझे परेशान न कर। जा तू, भाग यहाँसे।

हरेन—म-ए मे, र-ई री, मेरी; न-ए ने, ल-ई ली, नेली; मेरी नेली! मेरी नेली! नेली तुम्हारी थोड़े ही है, नेली तो रामूकी कुतिया है।

सतीश—ओःफ, तू नहीं मानेगा! जा यहाँसे।

हरेन (शोर मचाता हुआ)—मेरी नेली, मेरी नेली!

सतीश—भइया है न मेरा! चिल्लाते नहीं। अभी जा, फिर आना, तब तुझे एक चीज दूंगा।

हरेन—यह क्या है भाई सा'ब ? फूलोंका गुच्छा ! यह मुझे दे दो, मैं लूंगा।

सतीश—उससे हाथ नहीं लगाना। देख, खराब हो जायगा ! मान जा कहता हूं !

हरेन—नहीं खराब होगा, मुझे दे दो न।

सतीश—तुझे मैं कल बहुत-से ला दूंगा। इसे मत छूना !

हरेन—भाई सा'ब, यह बड़ा अच्छा है। मैं इसीको लूंगा।

सतीश—यह मेरा नहीं, दूसरेका है। रख दे, रख दे।

हरेन—मुझसे झूठ ! माने तुमसे लवंचूस लानेको कहा था, तुम फूलोंका गुच्छा ले आये हो ; और कहते हो, दूसरेकी चीज है !

सतीश—हरेन, तू मेरा प्यारा भइया है न ! मेरा कहना नहीं मानेगा ? अभी जा, मुझे जरूरी चिट्ठी लिख लेने दे, फिर आ जाना।

हरेन—अच्छा, तुम क्या लिख रहे हो, मुझे दिखाओ।

सतीश—अच्छा दिखाऊंगा, पहले पूरी लिख लूं।

हरेन—तो मैं भी लिखूंगा। (अपनी स्लेट पेन्सिल लेकर चिल्लाता हुआ) म-ए मे, र-ई री, मेरी ; न-ए ने, ल-ई ली, नेली ! मेरी-ई नेली-ई ! (जल्दी-जल्दी रेल-गाड़ी-सी चलाता हुआ) मेरी-नेली, मेरी-नेली ; मेरी-नेली, मेरी-नेली ; मेरी-नेली, मेरी-नेली ; मेरी-नेली, मेरी—

सतीश—चुप चुप, चिल्ला मत। ओह, नहीं मानेगा !

हरेन—तो मुझे गुच्छा दे दो।

सतीश—अच्छा ले ले। लेकिन खबरदार ! खराब नहीं

करना। यह क्या किया! इतनी मनाही की, फिर भी तोड़ लिया फूल! (गुच्छा छीनकर तमाचा मारता हुआ) बत्तमीज कहींका। जा यहाँसे, कहता हूं, जा! [हरेनका जोर-जोरसे रोना]

[सतीशका तेजीसे प्रस्थान : और विधुमुखीका तेजीसे प्रवेश]

विधु—सतीशने रुला दिया मालूम होता है। जीजीको मालूम पड़नेपर खैर नहीं। हरेन, बेटा मेरा, रो मत बेटा! राजा-बेटा है न मेरा, रो मत।

हरेन (रोता हुआ)—भाई सा'बने मारा है मुझे।

विधु—अच्छा अच्छा, मैं मारूंगी उसे। तू चुप हो जा, चुप हो जा बेटा। मैं उसे मार-मारके हड्डी चूर कर दूंगी।

हरेन—भाई सा'बने फूलोंका गुच्छा छीन लिया मुझसे।

विधु—अच्छा, मैं अभी मंगाये देती हूं। तू चुप हो जा! (फिर भी हरेन रोता ही रहा) ऐसा जिद्दी लड़का कहीं नहीं देखा मैंने। जीजीने लाड़ कर-करके लड़केकी रेढ़ मार दी। (डाटकर) लल्ला, चुप हो जा कहती हूं। नहीं तो झोलीवाला साधू आकर पकड़ ले जायगा। [सुकुमारीका प्रवेश]

सुकुमारी—विधु, ये क्या लच्छन तुम्हारे? मेरे बच्चेको इस तरह डरा-डराकर क्या तुम उसे बीमार डालना चाहती हो! मैंने नौकर-चाकर तकको मना कर दिया है कि कोई उसे डरकी बात न कहे। और तुम मौसी होकर बच्चेका उपकार कर रही हो! मेरे बच्चेने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, जो तुम्हें यह फूटी आँखों देखे नहीं सुहाता! मैंने बराबर तुम्हारे लड़केको अपने पेटका लड़का समझकर पाला-पनासा, उसे आदमी बनाया, आज तुम उसीका बदला चुका रही होगी, क्यों?

विधु (रोती हुई)—जीजी, ऐसी बात मुंहसे न निकालो। मेरे लिए जैसा मेरा सतीश, वैसा ही तुम्हारा हरेन, कोई भी फरक नहीं।

हरेन—मा, भाई सा'बने मुझे मारा है।

विधु—छिः बेटा, झूठ नहीं बोलते। सतीश यहाँ था ही नहीं, तो मारेगा कहाँसे!

हरेन—अरे वाः! अभी तो यहाँ बैठके चिट्ठी लिख रहे थे। उसमें लिखा था, मेरी नेली, मेरी नेली! अच्छा मा, नेली तो रामूकी है न!

सुकुमारी—हूंः!

हरेन—और मा, भाई सा'बसे तुमने मेरे लिए लवंचूस लानेको कहा था न, उस रुपयेसे वे अपना फूलका गुच्छा ले आये, लवंचूस नहीं लाये। और गुच्छेको जरा मैंने छू दिया तो मुझे थप्पड़ मार दिया।

सुकुमारी—मैं समझ गई सब। मा-बेटा दोनोंके दोनों मेरे बच्चेके पीछे पड़ गये हैं। तुम लोगोंको हरेन अब देखे नहीं सुहाता। तुम्हारी राहका काँटा हो रहा है लल्ला। यही तो मैं सोचा करती हूं कि बात क्या है, डाक्टर-वैद्यका घर भरते-भरते नाकमें दम आ गया, पर लल्ला मेरा दिनपर दिन सूखता ही जाता है! आज सब समझमें आ गया।

१४

सतीश—मैं तुमसे विदा लेने आया हूं, नेली!

नलिनी—क्यों, कहाँ जाओगे?

सतीश—जहन्नुममें।

नलिनी—उस जगह जानेके लिए क्या विदा लेनेकी जरूरत पड़ती है ? जिसे वहाँका पता मालूम है वह घर-बैठे ही पहुंच सकता है। आज तुम्हारा मिजाज ऐसा क्यों हो रहा है ? कालर शायद ठीक फैशनका नहीं हुआ !

सतीश—तुम्हारा क्या यही खयाल है कि मैं हमेशा कालर ही की बात सोचा करता हूं ?

नलिनी—मेरा तो यही खयाल है। इसीलिए तो कभी-कभी अचानक तुम चिन्ताशील-से दिखाई पड़ते हो।

सतीश—मजाक न उड़ाओ नेली ! तुम आज अगर मेरा हृदय देख सकतीं—

नलिनी—तो गूलरके फूल और साँपके पाँच पैर भी देख लेती !

सतीश—फिर मजाक ! तुम बड़ी निष्ठुर हो। मैं सच कहता हूं नेली, आज मैं तुमसे विदा लेने आया हूं।

नलिनी—दुकान जाना होगा ?

सतीश—मैं तुम्हारे हाथ जोड़ता हूं नेली, मजाक उड़ाकर अब और मुझे न जलाओ। आज मैं तुमसे हमेशाके लिए अन्तिम विदा लेने आया हूं।

नलिनी—क्यों, इसके लिए आज सहसा इतना आग्रह क्यों ?

सतीश—सच बात तो यह है, नेली, मैं कितना गरीब हूं, तुम जानती ही नहीं।

नलिनी—इसके लिए तुम्हें इतना डर क्यों है, मैं तो तुमसे रुपये उधार नहीं माँग रही ?

सतीश—तुम्हारे साथ मेरी सगाई हुई थी—

नलिनी—महज इसीलिए भागना चाहते हो? ब्याह होनेके पहले ही कलेजा धड़कने लगा?

सतीश—मेरी हालत मालूम होते ही भादुड़ी साहबने सगाई तोड़ दी।

नलिनी—बस, इसी अपमानपर जहन्नुमका रास्ता लेना चाहते हो? इतने बड़े अभिमानीको किसीके साथ संबंध रखना शोभा नहीं देता। मैं क्या यों ही तुम्हारे मुँहसे प्रेमकी बात सुनकर मजाकमें उड़ा दिया करती हूं?

सतीश—नेली, तो क्या तुम अब भी मुझसे आशा रखनेको कहती हो?

नलिनी—दुहाई है सतीश, इस तरह नाटकीय ढंगसे बना बनाकर बातें न किया करो, मुझे हँसी आती है। मैं तुमसे आशा रखनेको क्यों कहने लगी? आशा जो रखता है वह अपनी ही गरजसे रखता है, किसीकी सलाह लेकर नहीं।

सतीश—तुम ठीक कहती हो। मैं तुमसे सिफ इतना जानना चाहता हूं कि तुम गरीबसे नफरत करती हो या नहीं?

नलिनी—बहुत ज्यादा, अगर वह गरीब झूठके जरिये उसे छिपानेकी कोशिश करे।

सतीश—नेली, तुम क्या कभी अपना हमेशाका अभ्यस्त आराम छोड़कर गरीब-घरकी गृहलक्ष्मी हो सकोगी?

नलिनी—उपन्यासोंमें इस तरहकी बीमारीकी बात पढ़नेमें आती है, लेकिन जब वह बीमारी सचमुच ही किसीको खूब कसके घेर लेती है तो आराम अपने-आप ही घर छोड़कर भाग खड़ा होता है।

सतीश—उस बीमारीका कोई लक्षण क्या तुम—

नलिनी—सतीश, तुम कभी भी किसी परीक्षामें पास न हो सके। खुद नन्दी साहब भी शायद ऐसा सवाल न उठाते। तुमलोगोंको रत्ती-भर भी मुँह नहीं लगाया जा सकता।

सतीश—मैं तुम्हें अब तक नहीं पहचान सका, नेली !

नलिनी—कैसे पहचान सकोगे ! मैं तो तुम्हारी नई फैशनकी टाई या कालर नहीं हूं ! दिन-रात जिसकी तुम्हें चिन्ता रहती है, उसीको पहचान सकते हो।

सतीश—मैं तुमसे हाथ जोड़कर कहता हूं, नेली, तुम आजके दिन मुझसे ऐसी बातें न करो। दिन-रात मुझे किसकी चिन्ता रहती है सो तुम जरूर जानती हो—

नलिनी—तुम्हारे सम्बन्धमें हमारी अन्तर्दृष्टि इतनी प्रखर है, इस बातका तुम दृढ़ विश्वास न कर बैठना। देखो, बापूजी आ रहे हैं, मैं जाती हूं। [प्रस्थान]

सतीश—मिस्टर भादुड़ी, मैं विदा लेने आया हूं।

भादुड़ी—अच्छी बात है।

सतीश—जानेके पहले एक बात—

भादुड़ी—लेकिन अभी वक्त नहीं, मुझे टहलने जाना है।

सतीश—कुछ देरके लिए मैं भी आपके साथ चल सकता हूं ?

भादुड़ी—तुम बेशक चल सकते हो, लेकिन मैं नहीं चल सकता। फिलहाल मैं साथीके अभावमें इतना व्याकुल नहीं कि तुम्हें साथ ले चलूं।

१५

शशधर—ओह, तुम क्या कह रही हो ! तुम्हारा क्या दिमाग खराब हो गया है ?

सुकुमारी—मेरा दिमाग खराब है, या तुम्हें आँखोंसे कुछ सुझाई नहीं देता !

शशधर—दोनों ही बातें संभव हो सकती हैं, आश्चर्यकी इसमें क्या बात है। लेकिन—

सुकुमारी—अपने हरेनके जन्म-दिनसे ही नहीं देख रहे कि दोनोंके चेहरे कैसे हो गये हैं ? सतीशके हाव-भावसे कुछ भी समझ नहीं पाये अब तक ?

शशधर—इतनी बारीक समझ नहीं मेरी, सो तो तुम जानती ही हो। और-फिर, बचपन ही से मेरे कैसा-तो एक संस्कार-सा बैठ गया है कि 'मन अदृश्य वस्तु है'। कोई घटना हो तो समझमें आ भी जाती है, पर किसीके मनकी बात ढूंढ़ निकालना मेरे लिए बड़ा मुश्किल काम है।

सुकुमारी—सतीश जब भी मौका पाता है, तुम्हारे बच्चेको मारता है, और विधु भी जब-है-तब भूतका डर दिखाती रहती है।

शशधर—लो देखो, तुमलोग छोटी-छोटी बातोंको कितनी बड़ी करके देखती हो। मान लो, सतीशने क्वचित-कभी लल्लाको—

सुकुमारी—सो तुम सह सकते हो, मैं नहीं सह सकती। बच्चेको तो तुमने पेटमें नहीं रक्खा !

शशधर—इस बातको मैं अस्वीकार नहीं कर सकता। अब तुम्हारा अभिप्राय क्या है सो बताओ ?

सुकुमारी—शिक्षाके विषयमें वैसे तो तुम बड़ी-बड़ी बातें किया करते हो। अब तुम्हीं सोच देखो, हरेनको हमलोग जिस तरहसे शिक्षा देना चाहते हैं, उसकी मौसी उससे उलटा पाठ पढ़ा रही है कि नहीं? और सतीशका दृष्टान्त भी उसके लिए कैसा होगा, सो भी जरा सोच देखो।

शशधर—जब कि तुम ही इस बातपर बहुत ज्यादा सोच-विचार रही हो, तो फिर मेरे सोचनेकी क्या जरूरत! अब कर्तव्य क्या है सो बताओ?

सुकुमारी—मैं कहती हूं, सतीशसे तुम कहो कि अब वह अपनी माके पास रहकर काम-धन्धेकी फिकर करे। मर्द-बच्चा होकर दूसरोंके पैसोंपर नवाबी करना क्या अच्छा लगता है!

शशधर—उसकी माको जो-कुछ मिलता है, उससे सतीशका गुजारा कैसे हो सकता है?

सुकुमारी—क्यों, मकान-किराया देना नहीं पड़ता; फिर महीनेमें पचहत्तर रुपये क्या कम हैं?

शशधर—सतीशका जैसा चाल-चलन है, पचहत्तर रुपये तो वह चुरुटकी नोकपर ही फूँक देगा। उसकी माके पास जो-कुछ गहने-वहने थे, सो भी खतम हो चुके। अब हविष्यान्न गिरवी रखकर तो कर्जा चुकाया नहीं जा सकता।

सुकुमारी—जिसकी सामर्थ कम है उसे ऐसी नवाबी दिखानेकी क्या जरूरत!

शशधर—मन्मथ तो बराबर यही बात कहा करते थे। हम ही लोग तब सतीशको उलटा समझाते रहे थे। अब उसे कैसे दोष दिया जाय?

सुकुमारी—नहीं, भला उसका दोष कैसे हो सकता है ! दोष सब मेरा ही है। तुम्हें तो कभी भी और-किसीका दोष दिखाई नहीं देता, सिर्फ मेरे लिए ही तुम्हारी दृष्टिशक्ति पैनी बनी रहती है।

शशधर—ओ-हो, तुम नाराज क्यों हो रही हो ; मैं भी तो दोषी हूं।

सुकुमारी—सो हुआ करो। तुम्हारी बात तुम जानो। लेकिन, मैंने कभी भी उससे ऐसी बात नहीं कही कि वो मौसाके घर आरामसे बैठा मूँछोंपर हाथ फेरता रहे ; और आराम-कुरसीपर बैठा-बैठा मेरे बच्चेको कोसता रहे।

शशधर—नहीं, ठीक इन्हीं शब्दोंमें तुमने उससे प्रतिज्ञा नहीं कराई, लिहाजा तुम्हें भी दोष नहीं दिया जा सकता। अब यह बताओ, मुझसे कराना क्या चाहती हो ?

सुकुमारी—सो, तुम जैसा ठीक समझो वैसा करो। लेकिन, मैं कहे देती हूं, सतीश जबतक इस घरमें रहेगा, लल्लाको मैं किसी भी तरह बाहर नहीं जाने दूँगी। डाक्टरने खास तौरसे लल्लाको रोज हवा खिलानेके लिए कहा है, लेकिन बाहर कब वह सतीशकी नजरोंमें पड़ेगा और कब क्या हो जायगा, सोचती हूं तो मेरा जी काँप उठता है। वो भी तो मेरी खास बहनका लड़का है, पर उसपर मेरा एक क्षणके लिए भी विश्वास नहीं ; तुमसे मैं साफ कहे देती हूं। [सतीशका प्रवेश]

सतीश—किसपर तुम्हारा विश्वास नहीं, मौसीजी, मुझपर ? मैं तुम्हारे लल्लाको मौका पाते ही गला घोंटकर मार डालूँगा, यही डर है न तुमको ? अगर मारूँ भी, तो तुमने अपनी बहनके

लड़केका जितना अनिष्ट किया है उससे ज्यादा अनिष्ट होगा क्या उसका ? किसने मुझे बचपनसे नवाबों-जैसा शौकीन बनाया, और आज भिखारी बनाकर छोड़ दिया ? किसने मुझे पिताके शासनसे छीनकर दुनिया-भरकी बेइज्जतीके कूड़ेमें पटक दिया है ? कौन मुझे—

सुकुमारी—अजी, सुनते हो, तुम्हारे सामने मुझे इस तरह बेइज्जत कर रहा है ! अपने मुंहसे कहता है कि लल्लाका गला घोंट देगा ! हाय राम, अब क्या होगा जो ! मैंने ही काले नागको दूध पिलाकर इतना बड़ा किया है ।

सतीश—दूध मेरे घरमें भी था । उस दूधसे मेरा खून जहर नहीं बनता । उस दूधसे हमेशाके लिए मुझे वंचित करके तुमने जो दूध पिलाया है उससे मेरे अंदर जहर जम गया है । तुमने सच ही कहा है, अब मुझसे सबको डरना ही चाहिए ; अब मैं डस सकता हूं । [विधुमुखीका प्रवेश]

विधु—क्या है सतीश, क्या हुआ ? तुझे देखकर तो डर लगता है । इस तरह आँखें फाड़-फाड़कर ऐसे क्यों देख रहा है ! मुझे भूल गया क्या ? मैं तेरी मा हूं सतीश !

सतीश—मा, मैं तुम्हें किस मुंहसे मा कहूं । मा होकर तुमने मुझे पिताके शासनसे वंचित क्यों किया, मा ? क्यों तुमने मुझे जेलसे बचाया ? जेल क्या मौसीके घरसे भी ज्यादा खतरनाक थी ? तुमलोग भगवतीको मा कहकर पुकारती हो, वे अगर तुम्हीं जैसी मा हों, तो उनका प्यार भी मैं नहीं चाहता, वे मुझे नरकमें ढकेल दें तो अच्छा ।

शशधर—अःहःहः, सतीश ! चलो चलो। क्या बक रहे हो, चलो। चलो बाहर, मेरे कमरेमें चलो।

१६

शशधर—सतीश, जरा ठंडे होओ। तुम्हारे प्रति बड़ा-भारी अन्याय हुआ है, सो क्या मैं नहीं जानता। तुम्हारी मौसीने गुस्सेमें आकर जो-कुछ कहा है, उसपर तुम्हें ध्यान नहीं देना चाहिए। देखो, शुरूमें जो-कुछ गलतियाँ हुई हैं, अब उसका यथासम्भव प्रतिकार किया जायगा ; तुम निश्चिन्त रहो।

सतीश—मौसाजी, प्रतिकारकी अब मुझे कोई आशा नहीं। मौसीजीके साथ अब मेरा जैसा संबंध हो गया है, उससे अब आपके घरका अन्न मेरे गलेमें नहीं उतर सकता। अबतक आप लोगोंका जो-कुछ मैंने खर्च कराया है उसे अगर मैं कौड़ी-कौड़ी न चुका सका, तो मुझे मरनेके बाद भी शान्ति नहीं मिलेगी। प्रतिकार अगर कुछ हो, तो वह मेरे हाथमें है ; आप क्या प्रतिकार करेंगे !

शशधर—नहीं, सतीश, तुम जरा शान्त होओ। तुम्हारा जो कर्तव्य है उसे तुम फिर सोचना ; तुम्हारे प्रति हमलोगोंने जो अन्याय किया है उसका प्रायश्चित्त तो हमें ही करना पड़ेगा। देखो, अपनी जायदादका एक हिस्सा मैं तुम्हारे नाम लिख दूंगा। उसे तुम दान न समझना, उसपर तुम्हारा हक है। मैंने सब तय कर रखा है, परसों शुक्रवारको रजिष्ट्री करा दूंगा।

सतीश (शशधरके पाँव छूकर)—मौसाजी, मैं क्या कहूं, आपके इस स्नेहसे—

शशधर—बस, बस, रहने दो। स्नेह-विस्नेह मैं कुछ नहीं समझता, मेरा जो कर्तव्य है उसका पालन मुझे करना ही पड़ेगा। साढ़े-आठ बज रहे हैं ; तुम आज कोरिन्थियनमें जानेको कहते थे न, जाओ। और सुनो, एक बात तुमसे और कहता हूं। मैंने वह दानपत्र मिस्टर भादुड़ीसे ही लिखवाया है। उनका रंग-ढंग देखकर तो यही मालूम हुआ कि वे इससे बहुत ही सन्तुष्ट हुए हैं ; और तुम्हारे प्रति भी उनका रुख मुझे अच्छा ही मालूम हुआ। यहाँ तक कि चलते वक्त उन्होंने मुझसे कहा, 'सतीश आजकल हमारे यहाँ आता क्यों नहीं ?' [सतीशका प्रस्थान] अरे रामचरण, अपनी माजीको जरा भेज देना।

[सुकुमारीका प्रवेश]

सुकुमारी—क्या तय किया ?

शशधर—एक बड़ी अच्छी तदबीर ढूँढ़ निकाली है।

सुकुमारी—तुम्हारी तदबीर 'बड़ी-अच्छी' ही होगी, सो मैं जानती हूं। खैर, जो भी हो, सतीशको यहाँसे बिदा कर रहे हो तो ?

शशधर—बिदा ही नहीं किया तो तदबीर किस बातकी ? मैंने तय किया है, सतीशको अपना मानिकपुरका हिस्सा लिख दूंगा ; उसीसे उसका काम चल जायगा। फिर कभी तुम्हें वह परेशान न करेगा। अपना अलग रहेगा, हमसे कोई वास्ता नहीं।

सुकुमारी—अ-हा-हा, कैसी अच्छी तदबीर है ! बलिहारी है तुम्हारी सूझको ! मैं तो मोहित हो गई। नहीं नहीं, ऐसा पागलपन तुम नहीं कर सकते, मैं कहे देती हूं।

शशधर—देखो, उस दिनकी जरा याद करो, जब कि सारी सम्पत्ति तुम उसीको देना चाहती थीं !

सुकुमारी—तब हरेन कहाँ हुआ था। और, तुम क्या सोचते हो कि मेरे अब और बाल-बच्चे नहीं होंगे ?

शशधर—सुकू, जरा मनमें विचारकर देखो, तुम्हारी तरफसे अन्याय हो रहा है। और, तुम ऐसा क्यों नहीं समझ लेतीं कि तुम्हारे दो लड़के हैं ?

सुकुमारी—मैं इतना नहीं समझती। तुमने अगर उसके नाम कुछ लिख दिया, तो मैं गलेमें फाँसी लगाके मर जाऊँगी, कहे देती हूं। [सुकुमारीका प्रस्थान : और सतीशका प्रवेश]

शशधर—क्यों सतीश, नाटक देखने नहीं गये ?

सतीश—नहीं मौसाजी, आज नाटक-वाटक नहीं। यह देखिये, लम्बे अरसेके बाद आज मिस्टर भादुड़ीके यहाँसे निमंत्रण आया है। आपके दानपत्रकी करामत देखिये। संसारसे मुझे नफरत हो गई है, मौसाजी ! मैं आपका यह दान नहीं लूंगा।

शशधर—क्यों सतीश ?

सतीश—मैं छद्मवेशमें संसारका कोई भी सुख नहीं भोगना चाहता। मेरी अपनी अगर कोई कीमत हो, तो, उस कीमतसे जो-कुछ मिलेगा उसीका भोग करूंगा ; उससे ज्यादा एक कानी कौड़ी भी नहीं चाहता मैं। दूसरी बात यह है कि आप जो-कुछ मुझे देना चाहते हैं उसमें मौसाजीकी सम्मति ले ली है आपने ?

शशधर—नहीं, लेकिन यह-सब किसी तरह हो जायगा। वे अभी राजी न हों तो पीछे हो जायँगी।

सतीश—आपने उनसे कहा है ?

शशधर—हाँ कहा है। बगैर उनसे कहे क्या यों ही—

सतीश—वे राजी हुई हैं ?

शशधर—उसे ठीक राजी नहीं कहा जा सकता, लेकिन उन्हें ठीकसे समझा देनेसे—

सतीश—व्यर्थ है मौसाजी। उनकी बिना राजीके आपकी सम्पत्ति मुझे नहीं चाहिए। आप उनसे कह दीजियेगा कि आज तक मैंने जो उनका अन्न खाया है उसे बगैर उगले मैं नहीं जी सकता। उनका सारा कर्ज मय ब्याजके चुका देनेके बाद ही मैं आरामकी साँस ले सकूंगा।

शशधर—खैर जाने दो, मैं तुम्हें कुछ नगद रुपये दे दूंगा।

सतीश—नहीं मौसाजी, अब और ऋण न बढ़ाऊँगा। आपसे मेरा अब सिर्फ एक अनुरोध है। अपने साहब-मित्रके आफिसमें मुझे जो काम दिलाना चाहते थे, सो दिला दीजिये।

शशधर—कर सकोगे तो ?

सतीश—अब भी अगर न कर सका, तो फिर मौसीजीका अन्न खाना ही मेरे लिए ठीक सजा होगी।

१७

सुकुमारी—देखो तो अब सतीश कैसी मेहनतसे काम करता है। उसका तो अब तौर-तरीका ह [illegible] बदल गया है।

शशधर—बड़े साहब सतीशकी बहुत तारीफ करते हैं

सुकुमारी—अब तुम्हीं सोचो, जमींदारी देकर तुम उसे जमींदार बना देते तो उसका क्या हाल होता! अब तक सब

नीलमपर चढ़ जाता न ! मेरी सलाह मानो तो कम-से-कम वह आदमी तो बन गया।

शशधर—विधाताने हमें बुद्धि नहीं दी, किन्तु स्त्री दे दी है ; और, तुमलोगोंको बुद्धि भी दी है और साथ-साथ बुद्धू पतियोंको भी समर्पण कर दिया है। आखिर जीतमें तो हम ही रहे।

सुकुमारी—अच्छा अच्छा, बहुत हो चुका, अब ज्यादा मजाककी जरूरत नहीं। सुनो, सतीशके पीछे इतने दिन तक जितना रुपया बरबाद हुआ वह अगर रहता तो—

शशधर—उसने तो कहा है कि वह सब चुका देगा।

सुकुमारी—वो जो-कुछ चुकायेगा सो मुझे मालूम है। लम्बी चौड़ी बात तो वह हमेशासे ही बनाता रहा है, और किया ही क्या है उसने ! शायद तुम उसी भरोसे बैठे होंगे ?

शशधर—अब तक तो भरोसा रखता आया हूं, अब तुम सलाह देती हो तो छोड़ दूंगा।

सुकुमारी—छोड़ दोगे तो तुम्हारा ज्यादा-कुछ नुकसान न होगा, इतना मैं कह सकती हूं। वो देखो, आ रहे हैं तुम्हारे सतीश बाबू। नौकरी होनेके बादसे तो हमारी चौखट लाँघना ही छोड़ दिया है, ऐसी तो उनकी कृतज्ञता है ! अब मैं जाती हूं।

[सतीशका प्रवेश]

सतीश—मौसीजी, भागनेकी जरूरत नहीं। यह देखो, मेरे हाथमें अस्त्र-शस्त्र कुछ भी नहीं है। सिर्फ कुछ नोट हैं।

शशधर—अरे ! इतने नोट ! अगर ये आफिसके हों तो इस तरह साथ-साथ लिये फिरना अच्छा नहीं, सतीश।

सतीश—अब साथ-साथ नहीं लिये फिरूँगा। मौसीजीके चरणोंमें अर्पित करता हूं। प्रणाम, मौसीजी। काफी दया की थी मुझपर तुमने। उसका कोई हिसाब नहीं रख सका था, इसलिए थोड़ी-बहुत भूल-चूक भी हो सकती है। पन्द्रह हजार रुपये गिन लो। तुम्हारे लल्लाके पुलाव-परमान्नमें जरा भी कहीं कोई कमी न पड़ने पावे।

शशधर—यह क्या बखेड़ा है, सतीश ? इतने रुपये तुम्हें कहाँसे मिल गये ?

सतीश—हैसियनका फाटका किया था।

शशधर—सतीश, फाटका तो जुआ है ?

सतीश—जुआ यहीं खतम होता है, अब आगे मुझे नहीं खेलना।

शशधर—तुम अपने ये रुपये ले जाओ, मुझे नहीं चाहिए।

सतीश—आपको तो मैंने दिये नहीं मौसाजी। यह मौसीजीका ऋण चुकाया है। तुम्हारा ऋण मैं कभी किसी कालमें नहीं चुका सकता।

शशधर—क्यों सुकू, ये रुपये—

सुकुमारी—गिनके खजांचीको दे क्यों नहीं देते ; क्या यों ही पड़े रहेंगे।

शशधर—सतीश, भोजन कर आये क्या ?

सतीश—घर जाके खाऊँगा।

शशधर—एं, अभी तक खाया नहीं, इतनी अबेर कर दी ! आज यहीं खा लो।

सतीश—अब नहीं खाना, मौसाजी। बड़ी मुश्किलसे पहला ऋण चुका है, अन्नका ऋण अब नया नहीं करूंगा। [प्रस्थान]

सुकुमारी—बापके हाथसे बचाकर खिला-पिलाके कैसे-कैसे इसे आदमी बनाया, आज हाथमें कुछ पैसा आ गया तो देखा मिजाज! कृतज्ञता इसीका नाम है! कल-जुग ठहरा न।

१८

सतीश—कल बड़े-साहब हिसाबके बही-खाते देखेंगे। सोचा था इस बीचमें हैसियनका भुगतान जरूर मिल जायगा, और आफिसकी रोकड़ पूरी कर दूंगा; लेकिन तकदीरकी बात, भाव गिर गया। अब जेलके सिवा और-कोई गति नहीं। बचपनसे ही वहीं जानेका इन्तजाम किया गया है, फिकर किस बातकी! लेकिन तकदीरको धोखा दूंगा मैं। इस पिस्तौलसे! दो गोलियाँ हैं, काफी हैं। नेली, नहीं नहीं, बन्द करो इन-सब वाहियात बातोंको; नहीं तो ठीकसे मरा भी नहीं जायगा। अगर वह मुझसे प्यार करती भी होगी, तो कलकी बातोंसे उसे मैं मार आया हूं। चिट्ठीमें मैंने उसके आगे सब-कुछ स्वीकार कर लिया है। अब संसारमें मेरे भाग्यमें जिसका प्यार बाकी है, वह है मेरी यह पिस्तौल। मेरी अन्तिम प्रेयसी, अपने ललाटपर तुम्हारा चुम्बन लेकर मैं आँख मीच लूँगा।

मौसाजीका यह बगीचा मेरे ही हाथका बना हुआ है। जहाँ भी जितने दुर्लभ पेड़-पौधे मिल सके थे, सब ला-लाकर लगाये थे। सोचा था, यह बगीचा किसी दिन मेरा ही होगा। भाग्य किसके लिए मुझसे इन पेड़-पौधोंका रोपण करा रहा था, उसने

तब मुझे नहीं बताया। खैर, इस झीलके किनारे इस विलायती स्टिफानोटिस-लताके कुञ्जमें मैं अपने इस जीवनकी आखिरी हवाखोरी खतम करूँगा। मरकर मैं इसपर दखल कर लूँगा। फिर यहाँ कोई हवा खानेकी हिम्मत न करेगा।

एक बार मौसाजीको प्रणाम करना चाहता हूं। संसारसे उनके चरणोंकी धूल ले जा सकता तो मेरी मृत्यु सार्थक हो जाती। लेकिन, अब शाम हो चुकी है, वे मौसीजीके पास होंगे। और इस हालतमें मौसीके पास न जाना ही ठीक है, खासकर जब कि मेरी पिस्तल भरी तैयार है।

मरते वक्त सबको क्षमा करनेका उपदेश शास्त्रोंमें है। लेकिन मैं क्षमा नहीं कर सका। मेरा यह मरनेका समय नहीं है। मेरे अन्दर बहुत-से सुखोंकी कल्पना थी, भोगोंकी बड़ी-भारी आशा थी, जो इस छोटे-से जीवनमें टूट-फूटकर चकनाचूर हो चुकी है। मुझसे कहीं ज्यादा अयोग्य और कहीं ज्यादा मूर्खोंके भाग्यमें अनेक बिन-माँगे सुख बदे हैं, लेकिन मेरे भाग्यमें कुछ नहीं बदा। इसके लिए जो खास तौरसे जिम्मेदार हैं उन्हें हरगिज क्षमा नहीं कर सकता, हरगिज नहीं। मेरे मृत्युकालका अभिशाप चिरजीवन उनके पीछे-पीछे फिरता रहे, उनके सब सुखोंपर पानी फेर दे, धूलमें मिला दे, यही मैं चाहता हूं। उनके प्यासके पानीको भाप बनाकर उड़ा देनेके लिए अपने दग्ध जीवनके सम्पूर्ण दाहको मैं यहीं रख जाऊँगा।

हाय हाय, सब प्रलाप है! सब-कुछ प्रलाप है! अभिशापमें कोई बल नहीं। मेरी मृत्यु सिर्फ मुझे ही खतम कर देगी, और

किसीकी देहपर हाथ भी न लगा सकेगी। ओःफ्, उन्होंने मेरे जीवनको बिलकुल तहस-नहस कर दिया, और मैं मरकर भी उनका कुछ न कर सकूंगा! उनका कुछ भी नुकसान न होगा, वे सुखसे रहेंगे, उनकी सुबहसे शाम तककी सारी दिनचर्या ज्योंकी त्यों चलती रहेगी ; और मेरा सूर्य-चन्द्र-नक्षत्रका सम्पूर्ण प्रकाश एक फूँकमें बुझ जायगा! मेरी नेली, ओःफ्, उस नामको अब जबानपर न लाऊँगा।

वो कौन! हरेन! शामके वक्त बगीचेमें चला आ रहा है। मा-बापकी निगाह बचाकर कच्चे अमरूद लेने आया है। इसकी आकांक्षा कच्चे अमरूदोंसे ज्यादा ऊपर नहीं चढ़ी ; उस पेड़की नीचेकी डालियोंमें ही उसके अधिकांश फल लगे हैं। संसारमें इसके जीवनका क्या मूल्य है! पेड़का जैसा एक कच्चा अमरूद, वैसा ही इसका जीवन। अभी अगर तोड़ लिया जाय तो जीवनकी कितनी ही निराशाओंसे इसे बचाया जा सकता है। और मौसी, ईः! एकदम घायल कबूतरकी तरह फड़फड़ाती रह जायगी! आऽह्!

ठीक समय है, ठीक जगह है, और ठीक आदमी! हाथ तो अब रोके नहीं रुकता। क्या करूं इस हाथको, क्या करूं?

[सतीश उत्तेजित हो उठा। एक टहनी उठाकर उससे वह पौधोंको तहसनहस करने लगा। इससे उत्तेजना और भी बढ़ने लगी। अन्तमें अपने हाथपर उसने चोट की ; पर उसे कुछ मालूम ही नहीं हुआ। आखिर जेबमेंसे पिस्तौल निकालकर वह हरेनकी तरफ तेजीसे दौड़ पड़ा।]

हरेन (चौंककर)—यह क्या, भाई-सा'ब! तुम्हारे पाँवों पड़ता हूं भाई सा'ब, पाँवों पड़ता हूं, बापूजीसे न कहना।

सतीश (चीखकर)—मौसाजी, मौसाजी, जल्दी आओ, बचाओ, बचाओ जल्दी, देर न करो, अपने बच्चेको बचाओ !

[दौड़ते हुए शशधर और उसके पीछे-पीछे सुकुमारीका प्रवेश]

शशधर (हाँफते हुए)—क्या हुआ सतीश ! क्या हुआ ?

सुकुमारी (हाँफती हुई)—क्या हुआ, मेरे लालको क्या हो गया ?

हरेन—कुछ नहीं, मा, कुछ नहीं, भाई सा'ब तुमसे हँसी कर रहे हैं।

सुकुमारी—यह कैसी वाहियात हँसी ! छिछि, देखो तो सही, मेरी छाती कैसी धड़कने लगी है। सतीश, तुमने शराब पी है ?

सतीश—भागो, अपने लड़केको लेकर अभी तुरत भाग जाओ यहाँसे। नहीं तो गया, तुम्हारा सब-कुछ गया !

[हरेनको लेकर सुकुमारी तुरत भाग जाती है]

शशधर—सतीश, ऐसे घबराये-हुए क्यों हो तुम, क्या बात है ? हरेनको किसके हाथसे बचानेको बुला रहे थे ?

सतीश—मेरे हाथसे ! (पिस्तौल दिखाकर) यह देखिये मौसाजी !

[बड़ी तेजीसे विधुमुखीका प्रवेश]

विधु—सतीश, तू कहाँ क्या सत्यानाश कर आया है बता तो ? आफिसका साहब पुलिस लेकर घरकी तलासी लेने आया है। अगर भागना हो तो अभी भाग जा कहीं। हाय भगवान। मैंने तो कोई पाप नहीं किया, मेरी फूटी तकदीरमें इतने दुःख !

सतीश—कोई डर नहीं। भागनेका उपाय मेरे हाथमें ही है।

शशधर—तो क्या तुमने—

सतीश—हाँ, मौसाजी, आपका सन्देह ठीक है। मैंने चोरी

करके मौसीजीका क़र्ज चुकाया है, मैं चोर हूं। मा, सुनके खुश होगी, मैं चोर हूं, मैं खूनी हूं। अब रोनेकी जरूरत नहीं मा, जाओ जाओ, मेरे सामनेसे चलो जाओ। मुझसे अब सहा नहीं जाता।

शशधर—सतीश, तुम मेरे भी तो ऋणी हो, तुम मेरा ऋण आज चुका दो न!

सतीश—बताइये, कैसे चुकाऊं। मैं क्या दे सकता हूं। क्या चाहते हैं आप?

शशधर—अपनी पिस्तौल मुझे दे दो।

सतीश—यह लीजिये, दे दी। मैं जेल ही जाऊंगा। नहीं जानेसे मेरे पापका ऋण नहीं चुक सकता।

शशधर—पापका ऋण सजासे नहीं चुक सकता, सतीश, कर्मके द्वारा चुकता है। यह तो तुम निश्चय समझो कि मेरे अनुरोध करनेपर बड़े-साहब तुम्हें जेल न जाने देंगे। अबसे तुम अपने जीवनको सार्थक करो, सुखसे जीओ।

सतीश—मौसाजी, अब मेरे लिए जीना कितना कठिन है, सो आप नहीं जानते। मरूंगा यह निश्चित जानकर ही पाँवके नीचेसे अपने अन्तिम सुखके आधारको ठुकराकर दूर फेंक आया हूं। अब क्या लेकर जीऊंगा मैं। संसारमें अब मेरा कुछ भी नहीं।

शशधर—फिर भी जीना होगा, सतीश, मेरा ऋण चुकानेके लिए। मुझे धोखा देकर तुम भाग नहीं सकते।

सतीश—जैसी आपकी आज्ञा।

शशधर—मेरा अनुरोध यही है कि तुम अपनी मा और मौसीको हृदयसे क्षमा कर दो।

सतीश—आप अगर मुझे क्षमा कर सकते हैं तो इस संसारमें और कौन ऐसा है जिसे मैं क्षमा नहीं कर सकता। (माको प्रणाम करके) मा, आशीर्वाद दो, मैं सब-कुछ सहने लायक हो जाऊँ। मेरे सब गुण-दोषोंके साथ तुमलोगोंने जैसे मुझे ग्रहण किया है, मैं भी उसी तरह संसारको ग्रहण कर सकूं, आशीर्वाद करो मा!

विधु—बेटा, मैं क्या कहूं। मा होकर सिर्फ तुझसे मोह ही किया, भलाई कुछ नहीं की। भगवान तेरा भला करें। जीजीसे भी तेरी तरफसे मैं क्षमाकी भीख मागूंगी, जाती हूं। [प्रस्थान]

शशधर—तुम भी चलो सतीश, आज तुम्हें यहीं खाना होगा।

[तेजीसे नलिनीका प्रवेश]

नलिनी—सतीश!

सतीश—क्या नलिनी!

नलिनी—इसके मानी क्या हैं? यह चिट्ठी तुमने मुझे क्यों लिखी?

सतीश—तुमने जो-कुछ समझा है, वही मानी ठीक है। तुम्हें धोखा देनेके लिए चिट्ठी नहीं लिखी। लेकिन मेरी तकदीरने सब-कुछ उलट दिया। तुमने समझा होगा, तुम्हारी दया पानेके लिए मैंने यह छल किया है। लेकिन मौसीजी गवाह हैं, मैं अभिनय नहीं कर रहा था। फिर भी अगर विश्वास न हो, तो प्रतिज्ञा पालन करनेका अब भी समय है।

नलिनी—क्या तुम पागलों जैसी बकवाद कर रहे हो। मैंने तुम्हारा क्या अपराध किया है जो तुमने मुझे ऐसी निष्ठुरतासे—

सतीश—किसलिए मैंने ऐसा संकल्प किया था, सो तो तुमसे

छिपा नहीं, नलिनी, मैंने तो कुछ भी छिपाया नहीं ; फिर भी क्या मुझपर तुम्हारी श्रद्धा है अभी तक ?

नलिनी—श्रद्धा ! सतीश, तुमपर इसीलिए मुझे गुस्सा आता है। श्रद्धा, छिछि, श्रद्धा तो संसारमें बहुतेरे बहुतोंको कहते हैं। तुमने जो काम किया है, मैंने भी वही किया है। तुममें अपनेमें कोई भेद नहीं रखा। यह देखो, अपने गहने मैं सब ले आई हूं। अब भी यह मेरी सम्पत्ति नहीं है, मा-बापकी है। मैं उनसे बगैर पूछे ही लाई हूं, इसकी कितनी कीमत है, मैं कुछ भी नहीं जानती। लेकिन, इससे क्या तुम्हारा उद्धार हो सकेगा ?

शशधर—जरूर हो सकेगा अगर इन गहनोंके साथ और भी एक कीमती चीज तुम दे सको सतीशको ?

नलिनी - माफ कीजियेगा शशधर बाबू, जल्दीमें आपको मैं—

शशधर—बेटी, इसमें शरमानेकी क्या बात है। दृष्टिका दोष सिर्फ हम जैसे बूढ़ोंके ही नहीं, बल्कि तुम जैसी लड़कियोंके भी होता है, यह तो हमारे लिए एक बड़ी-भारी खुशखबरी है, बेटो !—सतीश, तुम्हारे आफिसके साहब आये हैं मालूम होता है। मैं उनसे बात कर आऊं। तब तक तुम मेरी तरफसे अतिथि-सत्कार करो। बेटी, यह पिस्तौल अब तुम्हारे ही जिम्मे रहो।

शिक्षाका विकिरण

भंडार भोज्य-वस्तुओंसे भरा पड़ा हो और रसोई-घरमें हँड़िया चढ़ गई हों, तो भी उसे भोज नहीं कहा जा सकता। आँगनमें कितनी पत्तलें लगाई गई हैं और कितने आदमियोंको बुलाया गया है, उसी हिसाबसे भोजकी मर्यादा होती है। हम जिस 'शिक्षा' शब्दकी याद कर-करके मन-ही-मन खुश होते रहते हैं, उसमें भंडार-घरका चेहरा-ही-चेहरा है; किन्तु बाहर निगाह उठाकर देखते हैं तो आँगन सुनसान ही नजर आता है। शिक्षाके प्रकाशके लिए ऊँची लालटेन लटकाई गई है स्कूल-कालेजोंमें; परन्तु उससे अगर बन्द दीवारोंके अन्दर बन्दी प्रकाश ही हो, तो कहना चाहिए कि हमारा भाग्य ही खराब है। जिस तरह सम्पूर्ण पटकी भूमिकामें ही चित्रका प्रकाश होता है उसी तरह परिस्फुटता या पूर्ण विकास पानेके लिए शिक्षा चाहती है देश-भरकी सम्पूर्ण भूमिका। व्यापक भूमिकासे भ्रष्ट शिक्षा कितनी अस्पष्ट और असम्पूर्ण है, सिर्फ अभ्यस्त हो जानेके कारण ही उसकी दीनताकी वेदना हमारे मनसे मर गई है; अर्थात् हमारी आदतमें शुमार हो जानेसे हम उस कमीको महसूस ही नहीं करते। शिक्षाके विषयमें अन्य देशोंके साथ अपने देशकी जब तुलना करते हैं, तो सामने दीखनेवाले दृश्य-अंशको ही हम देखते हैं; अदृश्य-अंशका तो हम कोई हिसाब ही नहीं रखते। सिर्फ इतना मिला देखते हैं कि यूनीवर्सिटी वहाँ भी हैं, और हमारे देशमें भी उनके प्रतिरूप दो-एक दिखाई दे रहे हैं। यह भूल जाते हैं कि ऐसा कोई भाग्यवान देश नहीं जहाँ बँधे-हुए शिक्षालयके बाहर सम्पूर्ण समाज-भरमें बिना-बँधी मुक्त शिक्षाकी एक दिगन्त-व्यापी विशाल परिधि न हो।

किसी जमानेमें हमारे देशमें भी यह था। यूरोपके मध्ययुगके समान हमारे देशमें शास्त्रोंकी शिक्षा ही प्रधान थी। इस शिक्षाकी विशेष चर्चा तो होती थी प्राचीन पाठशालाओं और चतुष्पाठियोंमें, किन्तु उस विद्याकी भूमिका सारे देशमें विस्तृत थी। विशिष्ट ज्ञानके साथ साधारण ज्ञानका सम्बन्ध और आवागमन नित्य था। नखलिस्तानके साथ रेगिस्तानका जो उलटा सम्बन्ध

है, पंडित-मंडलीके साथ अपंडित जनताका वैसा सम्बन्ध नहीं था। हमारे देशमें ऐसा कोई अनादृत स्थान था ही नहीं जहाँ 'रामायण' 'महाभारत' 'पुराण-कथा' और धर्म-व्याख्या आदि नाना धाराओंमें होकर प्रतिदिन उसका प्रसार न होता हो। यहाँ तक कि जिन गंभीर तत्त्वज्ञानोंकी आलोचना दर्शनशास्त्रोंमें कठोर अध्यवसायके साथ हुई है, जनसाधारणकी चित्तभूमिपर उनका सर्वदा सिंचन होता रहता था। वृक्षकी खुराक जब पानीसे भलीभाँति तरल हो जाती है, तभी वृक्ष उसे अपनी शाखा-प्रशाखाओंमें ग्रहण कर सकता है; ठीक इसी तरह प्राचीनकालमें कठिन विद्याको रसमें गलाकर सर्वसाधारणके मनपर सींचा जाता था। जिस समय हमारे देशमें पूर्तकर्म (निर्माण-कार्य) धर्मका अंग था, उस समय गाँव-गाँवमें कुए और बावड़ी आदिका आयोजन अपने-आप ही विस्तृत और व्यापक था। हम सब जनोंने मिलकर स्वयं ही अपने लिए पीनेका पानी निकाला है, राज-परिषद्की किसी कंजूस अमलदारीके सामने हमें सिर नहीं धुनना पड़ा। इसी तरह हमारे समाजने अपने देशकी विद्याको स्वयं ही देश-भरमें बाँटा है। अगर वह ऐसा न करता, तो सारा देश आज बर्बरतासे काला और कर्कश हो जाता। विद्या तब विद्वानोंकी सम्पत्ति नहीं थी, वह थी सम्पूर्ण समाजकी सम्पदा।

ऐसे एक मामूली-से गाँवमें जहाँ समाचारपत्रोंका पत्र-मर्मर भी नहीं सुनाई देता, किसानोंने मुझे निमन्त्रित किया था। वहाँ लगभग सभी-कोई मुसलमान थे। मेरे स्वागतके लिए वहाँ 'यात्रा'का संगीत हो रहा था। चँदोवेके नीचे मिट्टीके तेलकी लालटेन जल रही थी, धरतीपर लड़के-बूढ़े सभी कोई चुपचाप स्तब्ध बैठे थे। गीतका मुख्य विषय था गुरु-शिष्यमें तत्त्वालोचना, देहतत्त्व, सृष्टितत्त्व, मुक्तितत्त्व आदिकी आलोचना। रह-रहकर उसीके साथ नाच-गान और तमाशेकी द्रुत-मुखरित झंकार हो रही थी। उस खेलका एक खास हिस्सा आज भी मुझे याद है। बात यह है, यात्री वृन्दावनमें प्रवेश करना चाहता है, पहरेदारने उसका रास्ता रोक दिया, और कहा, 'तुम चोर हो, तुम भीतर नहीं जा सकते।' यात्रीने कहा, 'चोरीका माल तुम्हें कहाँ दिखाई दिया?' द्वारपालने कहा, 'देखो, तुम्हारे कपड़ोंके

भीतर छिपा हुआ है, जिसे तुम अपना समझ रहे हो, वह सोलहो-आने हमारे राजाका है, धोखेसे तुमने उसे अपने जिम्मे रख छोड़ा है।' इतना कहते कहते महाढाक ढोल आदि बज उठे, और नकली बालोंके झकझोरोंके साथ चलने लगा नाच। मानो वही उस दिनके पाठका प्रधान अंश हो, और अध्यापकने उसपर पेन्सिलसे मोटे-मोटे डबल निशान लगा दिये हों। रात आगे बढ़ने लगी; बारह बज गये, एक बजाऊ है, दर्शक स्थिर होकर बैठे सुन रहे हैं। सब बातें स्पष्ट समझमें आवें चाहे न आवें, उन्हें उसमें ऐसी किसी चीजका स्वाद मिल रहा था जिसने उनकी प्रतिदिनकी नीरस तुच्छताको भेदकर चिरन्तनकी ओर उनके लिए मार्ग खोल दिया था।

ऐसे ही कितना समय बीत गया हमारे देशमें; बार-बार विचित्र रसोंके योगसे लोगोंने 'ध्रुव प्रह्लादकी कथा', 'सीताका वनवास', 'कर्णका कवच-दान', 'हरिश्चचन्द्रका सर्वस्व त्याग' आदि देखे-सुने हैं। तब दुःख था बहुत, अन्याय था काफी, और जीवनयात्राकी अनिश्चयता थी कदम-कदमपर; परन्तु उसके साथ ही ऐसी एक शिक्षाकी धारा बह रही थी जिसने भाग्यकी विमुखता होते हुए भी मनुष्यको आन्तरिक सम्पदाका खुला मार्ग दिखाया है; और मनुष्यकी उस श्रेष्ठताको जो अवस्थाकी हीनतामें भी उसे हेय नहीं कर सकती, उज्ज्वल बनाया है। और-चाहे जैसे भी हो, अमेरिकन टाकीसे यह काम नहीं हुआ।

अन्य देशोंमें अनिवार्य-शिक्षाको चालू हुए थोड़े ही दिन हुए हैं। हमारे देशमें जो जन-शिक्षा चालू है, उसे अनिवार्य नहीं कहूंगा; उसे कहूंगा स्वैच्छिक, यानी अपनी इच्छासे ली जानेवाली शिक्षा। यह बहुत पुरानी चीज है, बहुत दिनोंसे चली आई है। उसके पीछे कोई कानून नहीं था, तागीद नहीं थी। घर-घरमें उसका स्वतः संचार था, जैसे पूरे शरीरमें खूनका संचालन होता है।

उसके बाद समयका परिवर्तन हुआ। इस बीचमें, जब कि शिक्षित समाजने राज-द्वारकी ओर मुँह करके कभी करुण-कंठसे और कभी कृत्रिम क्रोधसे मन्त्रि-सभामें प्रवेशाधिकारकी अर्जी पेश की, तब उनके पीठ-पीछे

गाँव-गाँवमें प्यासका पानी उतर गया कीचड़ तक; और इधर शहरोंमें दर-दर झरने लगा नलका साफ पानी। और हमलोगोंने अचम्भेमें आकर कहा, 'उन्नति इसे कहते हैं !' देशका जो विशाल रूप है, वह तो छिप गया हमारे ओझलमें; और जो जीवन, जो प्रकाश देशमें सर्वत्र सूर्यकी किरणोंकी तरह फैला हुआ था, वह अटक गया छोटे-छोटे केन्द्रोंमें।

इस युगमें जिसे हम एजुकेशन या शिक्षा कहते हैं, उसका सोत या आरम्भ है शहरोंसे। उसके पीछे व्यापार और नौकरी चली आ रही है प्रासंगिक बनकर। यह विलायती शिक्षा-पद्धति वैसी ही है जैसी रेलकी डब्बेकी बत्ती। कमरेमें खूब उजाला है, पर योजन-के-योजन पार करती हुई जहाँसे गाड़ी दौड़ रही है, वह बिलकुल अन्धकारमें ही बिलाया जा रहा है। कारखानेकी बनी गाड़ी ही मानो सत्य है और हृदय-वेदनासे पूर्ण समस्त देश मानो माया-मरीचिका !

शहरमें रहनेवाले एक दल-विशेषको इस मौकेपर शिक्षा मिली, इज्जत मिली, रुपया मिला; और वे ही बन गये एनलाइटेंड यानी प्रकाशवान। उस प्रकाशके पीछे बाकी बचे हुए देशमें लग गया पूर्ण-ग्रहण। जिन्होंने शिक्षाकी चमकती हुई दृष्टिकी अन्धतामें स्कूलकी बेन्चोंपर बैठकर अंग्रेजीका सबक याद किया है, वे देशके मानी समझते हैं शिक्षित समाज; मयूरका मतलब निकालते हैं मोरपंखसे, हाथी कहते हैं तो वे समझते हैं गजदन्त ! सचमुच उसी दिनसे वर्तमान वाद्य-मुखरित नाट्य-मंचके नेपथ्यमें निरानन्द प्रकाशहीन गाँव-गाँवमें पानीकी तकलीफ, सड़कोंकी कमी, रोग, अज्ञान, सब-कुछ जम-जमकर इकट्ठा हो रहा है। और हमारी नगरी हो गई सुजला सुफला और बिजलीके पंखोंसे शीतला, और वहीं सिर उठा-उठाकर खड़े हो रहे हैं आरोग्य-निकेतन और शिक्षाके प्रसाद। हमें याद रखना चाहिए कि देशकी छातीपर एक सिरेसे लेकर दूसरे सिरे तक विच्छेदकी इतनी गहरी छुरी और कभी भी नहीं चलाई गई। इसे आधुनिकताका लक्षण बताकर निन्दा करनेसे काम नहीं चल सकता। क्योंकि किसी भी सभ्य देशकी अवस्था ऐसी नहीं है। आधुनिकता वहाँ सप्तमीके चन्द्रमाकी तरह आधे-प्रकाश

और आधे-अन्धकारसे खंडित नहीं हुई है। जापानमें पाश्चात्य विद्याका सम्बन्ध भारतवर्षसे भी कम समयका है, परन्तु वहाँ वह थिगरा-लगी फटी गुदड़ी नहीं रही। वहाँ व्यापकरूपसे फैली हुई विद्याके प्रभावसे सम्पूर्ण देशके मनकी विचार करनेकी शक्ति अविच्छिन्नरूपसे सचारित है। उनकी वह विचार-धारा एक साँचेमें ढली हुई नहीं है। आधुनिक कालके ही लक्षणके अनुसार उस विचार-धारामें विचित्रता है ; और साथ ही एकता भी। उनकी वह एकता युक्तिकी एकता है।

किसी-किसीने तथ्यका हिसाब लगाकर दिखाया है कि पहले इस देशमें ग्राम्य पाठशालाओंमें प्राथमिक शिक्षाका जो काम चालू था, ब्रिटिश-शासनमें क्रमशः वह घटता ही रहा है। मगर उससे भी ज्यादा सत्यानाशी नुकसान हुआ है जन-शिक्षा-पद्धतिके सहज मार्गोंके लोप होते जानेमें। सुना जाता है कि किसी समय यहाँ चारों तरफ आश्चर्यपूर्ण निपुणताके साथ नाना शाखाओंमें विभक्त नहरें खोदी गई थीं। वर्तमान शासनके अनादर और बुद्धिहीनताके कारण वे सब मिट्टीसे पट गईं ; और यही वजह है कि उनके किनारे-किनारे इतनी चिताएँ जल रही हैं। इसी तरह इस देशमें शिक्षाकी नहरें भी पट गईं, मिट गईं, और भीतर-बाहरकी पूरी दीनता बल पाकर उठ बैठी है। हमारे देशमें शिक्षाकी एक बड़ी समस्याका समाधान हुआ था। शासनकी शिक्षाने आनन्दकी शिक्षा बनकर देशके हृदयमें प्रवेश किया था, सम्पूर्ण समाजकी प्राणक्रियाके साथ मिलकर वह एक हो गई थी। परन्तु देशव्यापी प्राणोंके उस खाद्य-भंडारमें आज दुर्भिक्ष आ पड़ा है। अभी पहलेका सचित किया हुआ कुछ बाकी बचा है, इसीलिए अभी तक उसकी खड्गहस्त मूर्ति हमें दिखाई नहीं देती।

मध्य-एशियाकी मरुभूमिमें जिन पर्यटकोंने प्राचीन युगके चिह्नोंकी खोज की है, उन्होंने देखा है कि वहाँ कितने ही समृद्ध जनपद आज रेतीमें दबकर बिला गये हैं। किसी समय उन स्थानोंमें पानीका संचय था, नदीकी रेखाएँ अब भी मिलती हैं। परन्तु मालूम नहीं कब रस सूखने लगा और मरुभूमि एक-एक कदम आगे बढ़ने लगी ; और मालूम नहीं कब उसने

अपनी सूखी जीभसे हमारे हृदयको चाटना शुरू कर दिया, जो आज लोकालयका अन्तिम हस्ताक्षर तक असीम पांडुरतामें विलीन हो गया। असंख्य ग्रामोंको लेकर जो हमारा देश है, उस देशकी मनोभूमिमें भी रसका उद्गम आज रुक गया है। जो रस बहुत समयसे नीचेके स्तरोंमें व्याप्त हुआ पड़ा है, वह भी दिनों-दिन खुश्क हवाकी गरम साँसोंसे उड़ जायगा, अन्तमें प्राणनाशा मरुभूमि आगे बढ़-बढ़कर तृष्णा-रूपी अजगरकी तरह हमारे इस ग्रामोंसे गुँथे-हुए देशको ग्रास करती रहेगी। मरुभूमिका यह आक्रमण हमारी निगाहमें नहीं आता, क्योंकि एक विशेष शिक्षाकी वजहसे देशको देखनेवाली आँखें हमने खो दी हैं, झरोखेमें रखी लालटेनके उजालेके समान हमारी सम्पूर्ण दृष्टिका लक्ष्य केन्द्रीभूत हो गया है शिक्षित-समाजकी ओर।

मैं किसी समय बहुत दिनों तक बङ्गालके गाँवोंके निकट-सम्बन्धमें रहा हूं। गरमियोंके दिनमें एक दुःखका दृश्य मेरी आँखोंके सामने आता था। नदीका पानी उतरते-उतरते सूख गया है, किनारेकी जमीन फट गई है, ताल-तलैयोंकी तलैटीकी गन्दी मिट्टी तक दिखाई देने लगी, और चारों तरफ तड़कती हुई गरम बालू धाँय-धाँय कर रही है। स्त्रियाँ बहुत दूर पैरों चलकर घड़ेमें नदीका पानी ला रही हैं, उस पानीको अश्रुजल-मिश्रित न कहें तो और क्या कहें? गाँवोंमें आग लगे तो बुझानेका कोई उपाय ही नहीं, और हैजा दिखाई दे तो उसे रोकना मुश्किल हो जाता है।

यह हुई एक बात, इसके सिवा एक और दुःखकी वेदनाने मेरे हृदयपर चोट पहुंचाई थी। शाम हो रही है, तमाम दिन खेत-खलिहानका काम पूरा करके किसान घर लौट रहे हैं। एक तरफ विस्तृत मैदान निस्तब्ध अन्धकारसे छाया हुआ है, और दूसरी तरफ बाँसोंके झाड़ोंके भीतर एक-एक गाँव मानो रातकी बाढ़के ठीक बीचों-बीच घनघोर अन्धकारमय द्वीपोंकी तरह पड़े हैं। उस तरफसे ढोलक बजनेकी आवाज सुनाई दी और उसके साथ ही बहुतसे लोगोंका एकसाथ एकस्वरसे भजन-कीर्तनका एक ही पद बार-बार सुनाई देने लगा। सुनकर मालूम हुआ, यहाँ भी चित-जलाशयका पानी तले तक आ पहुंचा है। उत्ताप बढ़ गया है, परन्तु उसे

ठंडा करनेका साधन कितना थोड़ा है। एकके बाद एक वर्षों बीत गये इसी तरह दीन-अवस्थामें दिन काटते। इससे कैसे प्राण बच सकते हैं, अगर बीच-बीचमें ऐसा अनुभव न किया जाय कि हड्डीतोड़ मेहनत-मजदूरीके बाद भी मन कहता है—मनुष्यके अन्दर ऐसी भी एक जगह है जहाँ अपमानका उपशम होता है और दुर्भाग्यकी दासतासे बचकर वहाँ वह जरा दम लेकर आराम कर सकता है। किसी समय मनुष्यको इस प्रकारकी तृप्ति देनेके लिए समस्त समाजने बहुत बड़ा आयोजन किया था। उसका कारण यह था कि समाजने विपुल जनसाधारणको अपना समझकर स्वीकार कर लिया था। वह जानता था कि उनके नीचे उतर जानेपर सारा देश ही नीचे उतर जायगा। आज जनताका मानसिक उपवास दूर करनेके लिए कोई भी उसकी कुछ भी सहायता नहीं कर रहा है। उनके कोई आत्मीय या अपने आदमी नहीं हैं, बेचारे अपने-आप ही पहले जमानेकी तलछटसे ही किसी तरह थोड़ी-सी सान्त्वना पानेकी कोशिश करते रहते हैं। और कुछ दिन बाद यह भी खतम हो जायगा, सारे दिनके दुःख-धन्धोंके रीते तटपर निरानन्द घरोंमें दीआ भी न जलेगा, और न गीत ही सुनाई देंगे। वहाँ बाँस-झाड़ोंमें झींगुर झनकारेंगे, झाड़ियोंमेंसे सियारोंकी बोली सुनाई देगी पहर-पहरमें, और उस समय शहरोंमें शिक्षाभिमानियोंके झुण्ड बिजलीकी रोशनीमें सिनेमा देखनेके लिए भीड़ लगाये रहेंगे।

एक ओर तो, हमरे देशमें सनातन शिक्षाकी व्यापकता रुक जानेसे जन-साधारणमें ज्ञानका अकाल चिरजीवी होकर खड़ा हो गया, और दूसरी ओर आधुनिक समयकी नई विद्याका जो आविर्भाव हुआ, उसका प्रवाह भी सार्व-जनिक देशकी ओर नहीं बहा। पत्थरके बने कुण्डोंके पानीकी तरह वह जगह-जगह आबद्ध होकर रह गया, जहाँ बहुत दूरसे आकर तीर्थके पण्डोंको दक्षिणा देकर तब कहीं अंजुलि भरनेकी नौबत आती है; उपाय क्या, नियम ही ऐसे कसकर बाँधे गये हैं। मन्दाकिनीके रहनेका स्थान विशेष-रूपसे शिवके पेचीले जटाजूटमें ही है, मगर फिर भी उन्होंने अपनी धारा देव-ललाटसे उतारकर बहुत ही साधारणरूपमें घाट-घाटके नीचेसे मर्त्य-जनोंके द्वारके सामने

होकर बहाई है और घट-घटमें भरकर अपना प्रसाद बाँटा है। परन्तु हमारे देशमें चालू प्रवासिनी आधुनिकी विद्या वैसी नहीं है। उसमें विशिष्ट रूप तो है, पर साधारण रूप नहीं है। इसलिए अंग्रेजी सीखकर जिन्होंने विशिष्टता प्राप्त की है, सर्वसाधारणके संग उनके मनका मेल नहीं होता। हमारे देशमें सबसे बढ़कर जातिभेद यहीं है, श्रेणियोंमें परस्पर अस्पृश्यता इसीका नाम है।

अंग्रेजी भाषाके घूँघटमें छिपी हुई विद्या स्वभावसे ही हमारे मनकी सहवर्तिनी होकर नहीं चल सकती। यही वजह है कि हममेंसे अधिकांश लोगोंको ही जितनी शिक्षा मिलती है, उतनी विद्या नहीं मिलती। अपने चारों ओरकी आब-हवासे यह विद्या विच्छिन्न है, बिछुड़ गई है; हमारे घर और स्कूलके बीच ट्राम या पाँव-गाड़ी चलती है, मन नहीं चलता। स्कूलके बाहर पड़ा हुआ है हमारा देश; उस देशने स्कूलका विरोध ही लादा है काफी, सहयोग तो नामको भी नहीं पाया। उस विच्छेदके कारण हमारी भाषा और विचारधारा अधिकांश स्थलोंपर स्कूली लड़कोंके समान ही चला करती है। नोट-बुकोंका शासन हमपर से हटा नहीं, और न हमारी विचार-बुद्धिमें उतना साहस ही है; हम तो बस, सिर्फ नजीरसे मिला-मिलाकर बहुत ही सावधानीसे कदम रखकर चलना जानते हैं। शिक्षाके साथ देशके मन या हृदयका सहज-स्वाभाविक मेल करानेकी तैयारियाँ भी आज तक कभी नहीं हुईं। यह वैसा ही है जैसे दुलहिन रह गई इस पार मायकेके जनानखाने ही में; और उसका दूल्हा रहता है नदीके उस पार रेती छोड़कर और भी आगे। आखिर पार होनेकी नाव गई कहाँ?

पार होनेके लिए एक डोंगी दिखा दी जाती है; उसका नाम है 'साहित्य'। यह बात माननी ही पड़ेगी कि हमारा आधुनिक साहित्य वर्तमान युगके अन्न-वस्त्रसे प्रतिपालित हुआ है। इस साहित्यने नई रोशनीकी छूत हमारे मनमें लगा दी है; लेकिन हमें पनपानेवाली असली खुराक तो वह उस पारसे पूरी-पूरी ला ही नहीं रहा। जो विद्या वर्तमानयुगकी चिन्ता-शक्ति या विचारधाराको विचित्र आकारमें प्रकट कर रही है और विश्व-रहस्यके नये-नये द्वार खोल रही है, हमारे साहित्यिक मुहल्लेमें उसका जाना-आना

नहींके बराबर ही है। जो मन विचार करता है, जो मन विस्तार करता है और बुद्धिके साथ हमारे व्यवहारका सम्बन्ध स्थापित करता है जो मन, वह तो पूर्व-युगान्तरमें ही पड़ा हुआ है ; और जो मन रसका सम्भोग करता है, उसने जाना-आना शुरू कर दिया आधुनिक भोजकी निमन्त्रण-शालाके आँगनमें ! स्वभावतः ही उसका झुकाव उसी तरफ हो रहा है जिधर मद्य परोसा जा रहा है, जहाँ उग्र गन्धसे हवा हो गई है मतवाली।

कहानी, कविता और नाटक, इन्हींसे हमारे साहित्यकी पन्द्रह-आने तैयारियाँ हो रही हैं ; अर्थात् दावतका आयोजन हो रहा है, किन्तु शक्तिका आयोजन बिलकुल नहीं। यह सब-कुछ हो रहा है पाश्चात्य देशोंकी चित्ताकर्षक विचित्र चित्तशक्तिके प्रबल सहयोगसे। वहाँ मनुष्यत्व देह-मन-प्राणमें सभी दिशाओंमें व्याप्त है ; इसीलिए वहाँ अगर त्रुटियाँ भी हैं, तो साथ-साथ उनकी पूर्ति भी है। मान लो, वटवृक्षकी कोई डाली आँधीसे टूट रही है, कहींपर कीड़े खा-खाकर उसे खोखला कर रहे हैं, किसी साल वर्षाकी ही कमी है ; परन्तु फिर भी, कुल मिलाकर वनस्पतिने अपने स्वास्थ्य और शक्तिको बनाये रखा है। इसी तरह पाश्चात्य देशोंके मन और प्राणोंको क्रियाशील कर रखा है वहाँकी अपनी विद्याने, अपनी शिक्षाने, अपने साहित्यने ; इन सबने मिलकर अपनी कार्यशक्तिकी अथक उन्नति की है। इन सबके उत्कर्षसे ही वहाँका उत्कर्ष है।

हमारे साहित्यमें रसका ही प्राधान्य है। इसीलिए जब कभी कोई असंयम या कोई चित्त-विकार अनुकरणके नालेमें होकर इस साहित्यमें प्रवेश करता है, तो वही प्रधान हो उठता है ; और हमारी कल्पनाको वह रुग्ण विलासिताकी ओर बहाकर वीभत्स कर देता है। प्रबल प्राणशक्ति जब जाग्रत नहीं रहती, तो देशके छोटे-छोटे विकार भी बात-की-बातमें विषाक्त फोड़ा बनकर लाल-सुर्ख हो उठते हैं। हमारे देशमें इसी बातकी आशंका है। इस बारेमें दोष लगाये जानेपर हम नज़ीर दिखलाने लगते हैं पाश्चात्य समाजकी ; कहते हैं, यही तो सभ्यताकी आधुनिकतम परिणति है ; परन्तु उसके साथ ही आधुनिक सभ्यताकी जो विचारपूर्ण सचल प्रबल और विशाल

समग्रता चारों ओर फैली हुई है, उसे तो हम दबा ही जाते हैं।

किसी समय, जब कि मैं गँवई-गाँवमें रहता था, तब कोई-कोई साधुवेशधारी मेरे पास आते थे और वे साधकके नामपर वाममार्ग आदि उच्छृङ्खल इन्द्रिय-चर्चाका संवाद मुझे सुनाया करते थे। तारीफ तो यह है कि उसे वे धर्मका एक अँग समझते थे। उन्हींसे सुना है कि धर्मका एक अंग समझी जानेवाली वह उच्छृंखलता भीतर-ही-भीतर शहरों तकमें शिष्य-प्रशिष्योंकी शाखाओंमें शाखायित हो गई है। इस पौरुष-नाशिनी धर्म-नामधारी लालसाकी लोलुपताके व्याप्त होनेका मुख्य कारण यह है कि हमारे साहित्यमें, हमारे समाजमें, उन उपदानोंका बड़ा-भारी अभाव है जो विचार औरबुद्धिकी साधनाके द्वारा कठोर गवेषणाकी ओर हमारे मनकी उत्सुकताको जाग्रत रख सकते हों।

इसके लिए कम-से-कम अपने साहित्यिकोंको दोष नहीं दिया जा सकता। 'हमारा साहित्य सारगर्भ नहीं है', यह कहकर उसकी निन्दा करना सहज है; किन्तु क्या करनेसे उसे सारवान बनाया जा सकता है, इसका पथ-निर्णय करना उतना आसान नहीं। रुचिके सम्बन्धमें तो लोग बिलकुल लापरवाह हैं, क्योंकि उधर कोई शासन नहीं है। अशिक्षित रुचिको भी रसकी सामग्रीमेंसे, जो-भी-कुछ-हो, कोई-न-कोई आस्वादन मिल ही जाता है। और अगर वह समझता है कि उसीका ज्ञान रसज्ञानका चरम आदर्श है, तो उसपर तर्क करनेसे मामला फौजदारी तक पहुंच सकता है। कविता-कहानी-नाटकके बाजारकी तरफ जिन्हें समझदारोंका राजपथ नहीं मिला, वे कम-से-कम अनाड़ी-मुहल्लेके मैदानसे भी चल सकते हैं, किसी तरहका महसूल तो कहीं भी नहीं देना है; परन्तु जो विद्या मनन करनेकी है, वहाँ तो कड़े पहरेवाले सिंहद्वारको पार करके जाना पड़ता है, मैदान पार करके नहीं। जिन देशोंपर लक्ष्मी प्रसन्न हैं और सरस्वती भी, वे उस विद्याकी तरफ जानेके नये-नये मार्गोंको आये-दिन पक्के बनाते जा रहे हैं, उनका व्यापारिक आदान-प्रदान भी, पास और दूर, घर और बाहर, हर जगह चलता चल रहा है। हमारे देशमें भी तो अब देरी करनेसे काम नहीं चलेगा।

आज हमारे देशमें चारों तरफसे दुर्दिनके बादल घनघोर होकर मड़रा रहे हैं। शिक्षाके साथ-साथ हमारी आर्थिक दुर्गति भी चरम सीमा तक पहुंच रही है।

हम अपनी आर्थिक दीनताके कारण, अशिक्षाकी आत्मग्लानिसे कहीं नीचे तलैटीमें जाकर बिला न जायँ, यही डर है। इस शिक्षामें हमें अपने मनको, दुर्भाग्यके ऊपर सिर उठाये रखनेके लिए अपनी सम्पूर्ण चेष्टाओंको, जाग्रत रखना ही होगा। मनुष्यका मन जब छोटा हो जाता है, तो छोटेसे छोटे नख-चंचुका आघात भी समस्त उद्योगको संकुचित और बौना बना देता है। हमारे देशमें अपनेको तोड़ने-फोड़नेवाली ईर्ष्या, पर-निन्दा, दलबन्दियाँ और परस्पर टिलीलिली करनेकी उत्तेजना तो शुरूसे ही है; उसपर विद्याका उजाला या चितका प्रकाश भी जैसे-जैसे मन्द होता जायगा, वैसे-वैसे अपने ऊपर अश्रद्धा होनेके कारण ही दूसरोंको छोटा बनानेका अकारण प्रयास विषाक्त होकर उत्तरोत्तर बढ़ता ही जायगा।

प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता उसीका विषफल है। आज जो यहाँ हिन्दू-मुसलमानोंका लज्जाजनक विद्वेष देशको आत्मघातकी ओर प्रवृत्त कर रहा है, उसकी जड़में है सारे देशमें फैली हुई अबुद्धि। हमारी निर्धनता-रूपी अलक्ष्मीने उस अशिक्षित अबुद्धिकी सहायतासे ही हमारे भाग्यकी नींवँ उखाड़नेके काममें जासूस लगा दिये हैं; अपने आदमियोंको वह शत्रु बनाये दे रही है, विधाताको हमारे विरुद्ध किये दे रही है। अन्तमें अपना सर्वनाश करनेकी जिद यहाँ तक बढ़ गई कि आज हम अपनी ही भाषाको तोड़-फोड़ डालनेकी कोशिशसे बाज नहीं आ रहे। शिक्षा और साहित्यके जिस उदार क्षेत्रमें, सब तरहके मतभेद होते हुए भी, एकराष्ट्रीय मनुष्योंको मिलानेका स्थान है, वहाँ भी हमारा काँटे बोनेका उत्साह व्यथित नहीं हुआ, जरा भी लज्जित नहीं हुआ। दुःख होता है कि उसमें धिक्कार नहीं, किन्तु देश-भरमें फैली हुई अशिक्षाग्रस्त हेयताने हमारा ही मस्तक नीचा कर दिया है, हमारे समस्त महान उद्यमोंको उसने व्यर्थ कर दिया है। राष्ट्रीय बाजारमें राष्ट्रके अधिकारको लेकर मोल-तोलका शोरगुल कितना ही क्यों न होता रहे, वहाँ गोल-टेबिलके भँवरमें प्रतिकारकी चरम कुंजी हरगिज नहीं मिल सकती।

नावके नीचे जहाँ बन्धन ढीला है, वहीं हमें जल्दी हाथ लगाना पड़ेगा।

सबसे पहले चाहिए शिक्षित मन। स्कूल-कालेजोंके बाहर शिक्षा बिछा देनेका उपाय है साहित्य। मगर उस साहित्यको सर्वाङ्गीण-रूपसे शिक्षाका आधार बनाना होगा; देखना होगा कि उसके ग्रहण करनेका मार्ग सर्वत्र सुगम हुआ या नहीं। इसके लिए किस मित्रको बुलावें, मित्र भी तो आज दुर्लभ हो गये हैं। इसीसे अपने देशके विश्वविद्यालयके द्वारपर खड़ा अर्जी पेश कर रहा हूं।

मस्तिष्कके साथ स्नायुयोंका अविच्छिन्न सम्बन्ध सम्पूर्ण शरीरके अंग-प्रत्यंगोंमें व्याप्त है। विश्वविद्यालयको उस मस्तिष्कका स्थान ग्रहण करके सम्पूर्ण शरीरमें स्नायुतन्त्रकी प्रेरणा देनी होगी। प्रश्न यह है कि यह कैसे किया जा सकता है? उसके उत्तरमें मेरा प्रस्ताव यह है कि 'परीक्षाका एक व्यापक जाल देश-भरमें फैला दिया जाय। उसकी व्यवस्था ऐसे सहज-स्वाभाविक और व्यापक रूपमें की जाय कि जिससे देश-भरके लोगोंमें स्कूल-कालेजके बाहर रहकर भी स्वेच्छासे परीक्षा-पाठ्य पुस्तकें पढ़ने और मनन करनेका उत्साह पैदा हो।' यह देखनेके लिए कि अन्तःपुरकी स्त्रियाँ अथवा पुरुष, जो अनेक बाधाओंके कारण विद्यालयमें भरती नहीं हो सकते, वे भी फुरसतके वक्त अपनी कोशिशसे अशिक्षाकी लज्जाको दूर कर रहे हैं। विश्वविद्यालय हर जिलेमें परीक्षाके केन्द्र स्थापित कर सकता है। बहुतसे विषय एकसाथ मिलाकर विश्वविद्यालयसे डिग्रियाँ दी जाती हैं; किन्तु इस क्षेत्रमें उपाधि देनेके लिए उतनी बहुलताकी जरूरत नहीं। अकसर यह देखनेमें आता है कि व्यक्ति-विशेषके मनकी रुचिका झुकाव विषय-विशेषकी तरफ होता है। उसी विषयमें अपने विशेष अधिकारका परिचय दे सकनेपर समाजमें वह अपने लिए विशेष स्थान पानेका अधिकारी हो सकता है। इस अधिकारसे उसे वंचित रखनेका कोई कारण नहीं दिखाई देता।

विश्वविद्यालय यदि अपने पीठस्थानके बाहर भी व्यापक ढंगसे अपनी सत्ता फैला दे, तभी हमारी भाषामें काफी तादादमें शिक्षा-पाठ्य पुस्तकोंकी रचना सम्भव हो सकती है। नहीं तो, कभी भी हमारे साहित्यमें विषयोंकी

दीनता नहीं मिट सकती। जिन सीखने-योग्य विषयोंका ज्ञान होनेपर आत्म-सन्मानकी रक्षा होती है, उनके लिए और-कोई उपाय न होनेसे यदि बाध्य होकर हमें अंग्रेजी भाषाके द्वारपर जाकर हाथ पसारना पड़े, तो इस दरिद्रतासे तो हम अपनी मातृभाषाको हमेशा अपमानित ही बनाये रखेंगे। ऐसे व्यक्ति जो अपनी मातृभाषा ही जानते हैं, शिक्षित-समाजमें उनकी गिनती क्या हमेशा अछूत-श्रेणीमें ही होती रहेगी? ऐसा भी एक समय था जब अंग्रेजी स्कूलके प्रथम श्रेणीके छात्र यह कहनेमें कि वे अपनी भाषा नहीं जानते, अपना अगौरव नहीं समझते थे; और देशवासी भी उनके लिए सम्मानके साथ कुरसी बढ़ा देते थे। वे दिन अब नहीं रहे, यह सही है, मगर अब उन्हें यह कहते हुए सिर झुकाना पड़ता है कि वे सिर्फ अपनी ही भाषा जानते हैं। इधर राष्ट्रीय क्षेत्रमें **स्वराज** पानेके लिए हम जी-जान से कष्टोंका सामना करते हैं, परन्तु **शिक्षाके क्षेत्रमें स्वराज** पानेका उत्साह हमारे अन्दर जाग्रत ही नहीं हुआ। यह तो बहुत-थोड़ा कहा गया है। ऐसे आदमी आज भी हमारे देशमें मौजूद हैं जो इसका विरोध करनेको तैयार हैं, और वे समझते हैं कि शिक्षाको मातृभाषाके आसनपर बिठा देनेसे उसकी कीमत घट जायगी। विलायत जाने-आनेके प्रथम युगमें जब कि ऐंग्लो-इंडियनी नशा उत्कट था, तब उस समाजमें स्त्रियोंको साड़ी पहनानेसे प्रेस्टिज घटती थी। उसी तरह शिक्षा-सरस्वतीको साड़ी पहनानेसे आज भी बहुतसे लोग उसमें विद्याकी मानहानिकी कल्पना करते हैं। साथ ही यह भी मानी हुई बात है कि साड़ी पहने-हुए अपने निजी वेशमें ही देवीको हमारे घर-घर चलने-फिरनेमें आराम मिलेगा, ऊँचे खुरवाले बूट-जूते पहनकर चलनेमें उन्हें कदम-कदमपर अड़चन महसूस होगी।

एक दिन, अपेक्षाकृत कम उमरमें, जब कि मुझमें शक्ति थी तब कभी कभी अंगरेजी साहित्यको मैंने मुँहजबानी बँगला बनाकर सुनाया है। मेरे वे श्रोता सभी-कोई अंगरेजी जानते थे। फिर भी उन्होंने मंजूर किया है कि अंगरेजी साहित्यकी वाणी बँगला-भाषामें उनके मन तक जल्दी पहुंचती है। वास्तवमें आधुनिक शिक्षा अंगरेजी-भाषा-वाहिनी होनेके कारण ही हमारे मनके

प्रवेश-द्वारपर उसका बहुत-कुछ मारा जाता है। अंगरेजी खाना खानेकी टेबिलपर बैठकर भोजन करनेकी जटिल पद्धतिका जिन्हें अभ्यास नहीं है, ऐसे भारतीय लड़के विलायत जाते वक्त रास्तेमें पी-ऐंड-ओ कम्पनीके डिनर-कमरेमें जब खाने बैठते हैं, तो भोजन और रसनाके बीच छुरी-काँटोंक दौत्य या दलाली उनके लिए बाधक होनेके कारण ही वह भरपूर भोजन सामने बैठे हुए भी भूखे पेटकी माँगको पूरा नहीं कर सकते। हम शिक्षाके भोजकी भी ठीक यही दशा है। वहाँ है सब-कुछ; पर ब जो बहुत-कुछ नुकसान हो जाता है। यह जो-कुछ मैं कह रहा हूं, सब कालेजी यज्ञकी बात है, मेरा आजका आलोच्य विषय यह नहीं है। मेरा विषय है सर्व-साधारणको शिक्षित बनानेवाली शिक्षाका प्रसार। शि पानीका नल चलानेकी बात मैं नहीं कह रहा, मेरे कहनेका मतलब है जह उस पाइपकी पहुंच नहीं है वहाँ भी पानीका इन्तजाम होना चाहि मातृभाषामें वह व्यवस्था यदि गोखुरसे अधिक प्रशस्त न हुई, अगर उस अपने इस मौजूदा तंग दायरेका काफी लम्बा-चौड़ा न बनाया, तो इस विद्या-हीन देशके रेगिस्तानी मनकी क्या दशा होगी, जरा कल्पना कीजिये।

मैं अपनी भूखी-प्यासी मातृभाषाकी तरफसे, अपने ही देशके विश्वविद्याल के द्वारपर खड़ा हुआ, चातककी तरह उत्कंठित वेदनाके साथ प्रार्थना करता हूं. 'हे शिक्षामन्दिर, तुम्हारे अभ्रभेदी शिखरको घेरे हुए जो पुंजके पुंज घने श्यामल मेघ घूम-फिर रहे हैं, उनका प्रसाद आज फल और अनाजपर बरसने दो; ताकि फूल और पत्तोंसे पृथ्वी सुन्दर हो उठे, मातृभाषाका अपमान दूर हो, युगशिक्षाकी उमड़ती हुई धारा हमारे चित्तकी सूखी नदीके रीते मार्गसे बाढ़की तरह बह निकले, उसके दोनों तट पूर्ण चेतनासे जाग उठें, और घाट-घाटपर मुखरित हो उठे आनन्दध्वनि!'